सामाजिक अध्ययन

स्वतंत्र भारत

माध्यमिक कक्षाओं के लिए

नागरिक शास्त्र की पाठ्यपुस्तक
भाग-3



सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी विभाग

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

मई 1971
वैशाख 1893
अप्रैल 1974
चैत्र 1896

P. U. 20 T.

मूल्य
रु. 1.15

प्रकाशक विभाग में श्रीमती अंजनी दयानंद, सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान भवन, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 16 द्वारा प्रकाशित तथा राज किशन तुली द्वारा मेहता आफसेट वर्क्स नरैना II, दिल्ली 28. में मुद्रित।

प्रस्तावना

लगभग दो दशक हुए हमने स्वतंत्रता प्राप्त की थी और अपने को सर्वप्रभुत्व-संपन्न गणतंत्र घोषित किया था। प्रत्येक भारतीय को, एक सच्चे नागरिक के रूप में, स्वतंत्र भारत की उपलब्धियों का अब मूल्यांकन करना चाहिए। साथ ही उसे यह भी जानना चाहिए कि देश ने किन कठिनाइयों का सामना किया है और अभी भी किन सामाजिक, आर्थिक और राज-नैतिक समस्याओं का सामना कर रहा है। इन समस्याओं का तात्कालिक और वास्तविक समाधान ढूंढ़ना आज प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है, दायित्व है। इन समस्याओं के प्रति विद्यालय में पढ़ने वाले बालकों को सचेत करना भी आवश्यक है ताकि वे योग्य नागरिक बन सकें और अपने देश की समृद्धि और संवर्धन में अपना भविष्य न्यौछावर कर सकें। इसे प्राप्त करने में सामाजिक अध्ययन को महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनी है। यह पाठ्यपुस्तक, 'स्वतंत्र भारत' जो सामाजिक अध्ययन के पाठ्यक्रम पर तैयार की गई है, ऐसी समस्याओं को जिन्हें बालक को जानना चाहिए, उभारती है।

बालकों के लिए इस पुस्तक को रुचिकर एवं सहज ग्राह्य बनाने तथा सामाजिक अध्ययन के कठिन प्रत्ययों के सरल स्पष्टीकरण के लिए सरल भाषा और उदाहरणों तथा चित्रों का उपयोग किया गया है। प्रत्येक अध्याय के अंत में छात्रों और अध्यापक दोनों के उपयोग के लिए अभ्यास दिए गए हैं।

इस पुस्तक का प्रथम प्रारूप डा० हरिमोहन जैन, रीडर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय और अग्रसेन इंटर कालेज, इलाहाबाद के श्री प्रेमशंकर खरे द्वारा प्रो० त्रिभुवन शंकर मेहता (प्रभारी अध्यक्ष), सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी विभाग के निदेशन में तैयार किया गया है। अनुभवी शिक्षकों के एक समीक्षा-समूह और विभाग के श्री अमीचंद शर्मा तथा श्रीमती गुप्ता दास के द्वारा इस पांडुलिपि की अंतिम समीक्षा की गई है। परिषद् उन सभी लोगों के प्रति आभारी है जिन्होंने इस पुस्तक के निर्माण के विभिन्न चरणों में अपना सक्रिय योगदान दिया है। प्रस्तुत संस्करण को हम प्रायोगिक कहना चाहेंगे। अतएव, इस पुस्तक को अधिक उपयोगी और संवर्धित बनाने के लिए शिक्षकों तथा शिक्षाविदों के सुझाव का हार्दिक स्वागत किया जाएगा।

सं० वि० चंद्रशेखर अय्या
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
28-4-71

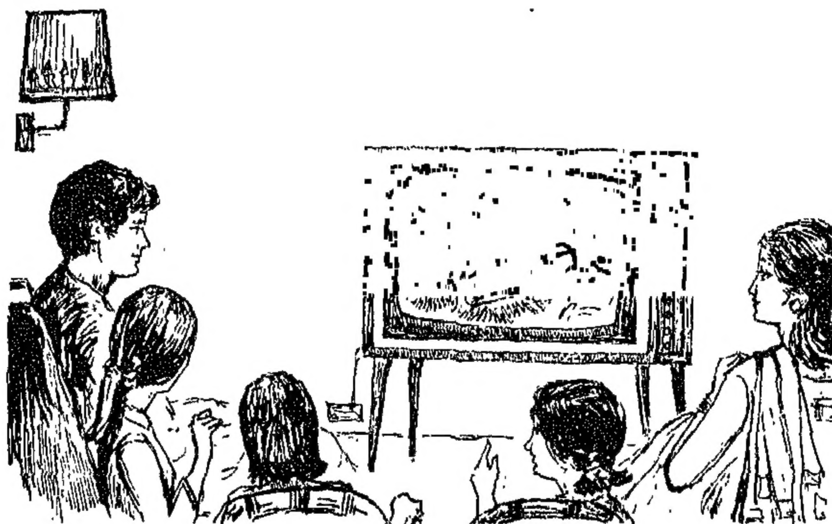
विषय-सूची



1 लोकतंत्र और नागरिक

पिछली कक्षा में तुम पढ़ चुके हो कि हमारे संविधान के अनुसार देश में लोकतंत्रात्मक राज्य की स्थापना हुई है। लोकतंत्र में सरकार का चुनाव जनता द्वारा होता है। चुनाव में मतदान करने का अधिकार केवल वयस्क नागरिकों को ही होता है। यदि मतदाता योग्य व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि चुनें तो देश का शासन उत्तम ढंग से हो सकेगा और जनता सुखी रह सकेगी। पहले जमाने में जब राजा-महाराजा शासन करते थे तो राज्य के शासन की बागडोर एक ही व्यक्ति के हाथ में होती थी। यदि वे योग्य व ईमानदार हुए तो उनकी प्रजा सुखी रहती थी, अन्यथा नहीं। इसलिए यह कहावत चल पड़ी: 'यथा राजा तथा प्रजा'। किन्तु लोकतंत्र में जनता की ही सरकार होती है, अतः अब यह कहना अधिक उचित होगा: 'यथा मतदाता तथा सरकार।'

वास्तव में नागरिकों की योग्यता और ईमानदारी पर ही उत्तम लोकतंत्रात्मक सरकार का निर्माण संभव है। लोकतंत्र में नागरिकों को निरंतर जागरूक रहने की आवश्यकता है। बहुधा उन्हें देश के हित में महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने होते हैं। यदि उन्हें अपने देश या क्षेत्र की समस्याओं का उचित ज्ञान रहता है तो वे किसी विषय



के पक्ष या विपक्ष में सही मत प्रकट कर सकते हैं। उन्हें चाहिए कि समाचारपत्रों, टेलीविजन, रेडियो तथा सार्वजनिक सभाओं के द्वारा अपना ज्ञान बढ़ाएँ।

लोकतंत्र में सभी नागरिकों को अपना-अपना विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता रहती है। जिस प्रकार तुम चाहते हो कि दूसरे लोग तुम्हारी बात सुनें, उसी प्रकार दूसरे लोग भी चाहते हैं कि तुम उनकी बात सुनो। इतना ही नहीं, लोकतंत्र में विरोधियों (विपक्षी) के विचारों को भी शांतिपूर्वक सुनना चाहिए, तथा बिना शांति-भंग किए विपक्षियों के तर्कों का उत्तर भी देना चाहिए। एक अच्छे लोकतंत्र के नागरिकों में विपक्षियों के विचारों के प्रति सम्मान की भावना होती है।

नागरिकों को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वे सरकार द्वारा किए गए कार्यों पर विचार करें तथा उसकी भूलों की आलोचना करें। सरकार की नीति का विरोध करने का अधिकार सभी नागरिकों को है किन्तु विरोध करने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे राष्ट्रीय संपत्ति को नुकसान पहुँचाएँ, सामान्य

नागरिक-जीवन में विघ्न डालें या सरकारी कारोबार ठप्प कर दें। लोकतंत्र में सरकार एक निश्चित अवधि के लिए चुनी जाती हैं। उससे पूर्व उसे हटाने के लिए संवैधानिक उपाय काम में लाने चाहिए अथवा सामान्य निर्वाचन के समय चुनाव द्वारा परिवर्तन लाना चाहिए।

जब हम यह कहते हैं कि लोकतंत्र में जनता की सरकार होती है तो उसका यह अभिप्राय है कि देश में बहुमत वाले दल के प्रतिनिधि शासन करते हैं। कभी-कभी यह बहुमत दो-तीन पार्टियाँ मिल कर भी बना लेती हैं। इससे यह अभिप्राय नहीं है कि बहुमत के लोग अल्पमत की उपेक्षा करें। उनका यह कर्तव्य है कि अल्पमत वालों की भावनाओं को ठेस न पहुँचाएँ। अल्पमत वाले नागरिकों का भी यह कर्तव्य है वे बहुमत के द्वारा किए निर्णयों का पालन करें। लोकतंत्र में बहुमत दल की सरकार होने पर भी वह संपूर्ण देश के हित में कार्य करती है। देश के प्रत्येक नागरिक को भी राष्ट्रहित सर्वोपरि रखना चाहिए। एक क्षेत्र की उन्नति शेष सभी क्षेत्रों की समृद्धि में सहायक होती है और किसी को व्यक्तिगत अथवा संकुचित स्वार्थ के वशीभूत होकर उत्तेजित नहीं होना चाहिए।

हमारे देश में अब तक कई आम चुनाव हो चुके हैं। यद्यपि वयस्क मताधिकार के अंतर्गत स्त्री-पुरुषों को मताधिकार प्राप्त है तथापि मताधिकार का प्रयोग सभी नागरिक नहीं करते। कुछ लोग आलस्य के कारण मत (वोट) देने नहीं जाते, तो कुछ यह सोचते है कि उन्हें मतदान से क्या लाभ होगा। कुछ लोग यह भी सोचते हैं कि यदि एक नागरिक वोट नहीं देगा तो इससे क्या अंतर पड़ेगा। कभी-कभी यह भी भावना रहती है कि जब उम्मीदवारों में से कोई भी अपना परिचित नहीं है तो कोई भी जीते, हमें क्या। परिणाम यह होता है कि कहीं-कहीं तो आधे से अधिक नागरिक मताधिकार का प्रयोग नहीं करते। वे यह नहीं समझते कि मतदान करना नागरिकों का अधिकार ही नहीं वरन् उनका कर्तव्य भी है। उन्हें अपने इस कर्तव्य का पालन अवश्य करना चाहिए। अन्यथा चुनाव में अयोग्य अथवा स्वार्थी लोग विजयी हो जाएँगे।

जब मतदाता के सम्मुख अनेक उम्मीदवार होते हैं, तो उनके विवेक, राष्ट्र-प्रेम और निःस्वार्थ भावना की परीक्षा की घड़ी आती है। उसे सोच-विचार कर



ऐसे व्यक्ति को वोट देना चाहिए जो जन-कल्याण के कार्य अधिक लगन से कर सके। इस बात को समझ लेना चाहिए कि उसमें कौन से अच्छे गुण हैं और उसने समाज-सेवा के कार्यों में किस प्रकार हाथ बँटाया है। कुछ उम्मीदवारों को छोड़कर प्रायः सभी उम्मीदवार किसी न किसी राजनैतिक दल से संबंधित होते हैं। ऐसे उम्मीदवारों की व्यक्तिगत योग्यता, ईमानदारी तथा समाज-सेवा के कार्यों के अतिरिक्त यह भी देखना जरूरी है कि वे किस राजनैतिक दल से संबंधित हैं। उस राजनैतिक दल के उद्देश्यों और कार्यक्रम को भली भाँति समझ लेना चाहिए। जो राजनैतिक दल देश की एकता और देश में रहने वाले सभी नागरिकों के हित का ध्यान रखते हैं, उन्हीं दलों के उम्मीदवारों को वोट देना चाहिए।

जाति-पाँति, धर्म तथा प्रादेशिक भावना से प्रेरित होकर वोट देने से लोकतंत्र कमजोर होता है। ऐसा करने से राष्ट्रीय एकता को आघात पहुँचता है और समाज का वातावरण दूषित हो जाता है। अयोग्य व्यक्ति कहीं भाषा के नाम पर, तो कहीं जातिबिरादरी के नाम पर चुनावों में मतदाताओं को बहकावे में डाल देते हैं और कभी-कभी चुनाव में सफल भी हो जाते हैं। विजयी होकर वे संपूर्ण समाज की सेवा करने की अपेक्षा अपनी स्वार्थ-सिद्धि में लग जाते हैं।

कुछ उम्मीदवार वोट पाने के लिए मतदाताओं को अनेक प्रलोभन देते हैं। मतदाताओं को चुनाव स्थान तक लाने के लिए मोटरगाड़ी आदि का प्रबंध करना, उनको भोजन अथवा जलपान कराना, इसके कुछ उदाहरण हैं। मतदाताओं को इन प्रलोभनों में नहीं आना चाहिए। उम्मीदवारों के लिए इनका सहारा लेना अनुचित और अवैध है।

जो व्यक्ति चुनाव जीत जाए, उसे दलीय मतभेद भुलाकर अपने क्षेत्र के सभी लोगों के हित में कार्य करना चाहिए। चुनाव जीतने के बाद दल बदलना भी अनुचित है। इससे सरकार स्थिर नहीं रह पाती, प्रशासन में भी दोष आ जाते हैं, और राजनैतिक जीवन में भ्रष्टाचार फैलता है। दल बदलने के कारण निजी स्वार्थ ऊपर आ जाते हैं और जनहित का ध्यान पीछे रह जाता है।

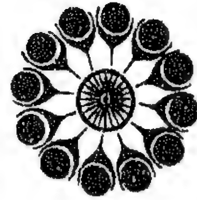
उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए हमें लोकतंत्र की रक्षा के लिए निरंतर जागरूक रहना चाहिए। इसकी सफलता हमारे चरित्र, परिश्रम और सहयोग पर निर्भर है। जाति-पाँति का भेदभाव, राजनीति में रुचि न होना, और शिक्षा का अभाव लोकतंत्र के सब से बड़े शत्रु हैं। लोकतंत्र की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि देशवासियों में इस प्रकार की व्यवस्था में पूर्ण आस्था हो। वे यह विश्वास लेकर चलें कि जिस प्रकार अन्य लोकतंत्रीय देशों ने अपनी समस्याएँ हल की हैं, वैसे ही हम भी हल कर सकेंगे। लोकतंत्र की कसौटी है—आपस में समझ-बूझ कर जन-हित में बहुमत से निश्चय लेना; विचार-विमर्श और संवैधानिक तरीके से परिवर्तन लाना।

अभ्यास के प्रश्न

1) लोकतंत्र में सरकार का निर्माण किस प्रकार होता है ?
2) एक अच्छे मतदाता को वोट डालने के पूर्व किन बातों का ध्यान रखना चाहिए ?
3) क्या कारण है कि अपने देश में बहुत से लोग वोट डालने नहीं जाते ?
4) लोकतंत्रीय शासन में नागरिक सरकारी नीतियों का विरोध किन तरीकों से कर सकते हैं ?
5) अपने देश की लोकतंत्रीय व्यवस्था की सफलता में प्रमुख बाधाएँ कौन-सी हैं ?
6) निम्नलिखित कथनों में लोकतंत्र से संबंध रखने वाले कथनों के सामने (✓) का चिन्ह लगा दो—
   (i) विपक्षियों की भावनाओं का आदर किया जाता है ।
   (ii) बहुमत वाले राजनैतिक दल देश की सरकार बनाते हैं ।
   (iii) विद्वानों तथा स्त्रियों को विशेष अधिकार दिए जाते हैं ।
   (iv) अधिक संपत्ति वालों को विशेष अधिकार नहीं दिए जाते हैं ।
   (v) ग्रामवासियों को नगरवासियों की अपेक्षा कम अधिकार होते हैं ।
   (vi) सभी नागरिकों को सरकार का विरोध करने का अधिकार होता है ।

कुछ करने को

1) अपने पड़ोसियों से मिल कर यह ज्ञात करो कि उनमें कितने लोग वोट डालने नहीं गए । इसका कारण भी पता लगाकर एक छोटा सा विवरण तैयार करो ।
2) मान लो कि तुम्हें अपने विद्यालय की छात्र-सभा के अध्यक्ष-पद के लिए वोट देना है । वोट देने के पूर्व तुम किन बातों का ध्यान रखोगे, इसकी एक सूची बनाओ ।



2 शिक्षा की समस्या

लोकतंत्रीय सरकार को सुचारु रूप से चलाने के लिए नागरिकों का शिक्षित होना जरूरी है। शिक्षित नागरिकों को अशिक्षितों की अपेक्षा अपने अधिकारों और कर्तव्यों की अधिक जानकारी होती है। वे सार्वजनिक समस्याओं पर अधिक गंभीरता से विचार कर सकते हैं। उन्हें राजनीति के प्रश्नों की अधिक जानकारी हो सकती है। वे देश-विदेश की समस्याओं को भी समझ सकते हैं और उनके प्रति अपनी राय कायम कर सकते हैं।

हमारे देश में आज भी बहुत लोग अशिक्षित हैं। स्त्रियों में शिक्षितों की संख्या तो और भी कम है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद शिक्षा के प्रसार पर बल दिया जा रहा है जिसके फलस्वरूप शिक्षितों की प्रतिशत संख्या बढ़ती जा रही है। लेकिन साथ ही जनसंख्या इतनी बढ़ रही है कि अशिक्षितों की संख्या घटने की बजाय बढ़ ही रही है।

भारत में शिक्षा का उत्तरदायित्व मूलतः राज्य सरकारों पर है। केन्द्रीय सरकार भी कुछ सुविधाएँ प्रदान करती है। हमारे देश के संविधान में राज्यों को यह भी निर्देश दिया गया है कि राज्य 14 वर्ष तक के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करे। सभी राज्य सरकारों ने प्रारंभिक

शिक्षा निःशुल्क कर दी है किन्तु अनिवार्य शिक्षा की दिशा में अभी थोड़े ही राज्यों ने ठोस कदम उठाए हैं।

सीमित साधन

शिक्षा के महत्त्व को सभी समझते हैं किन्तु देश के साधन इतने सीमित हैं कि शिक्षा की प्रगति अधिक तेज़ी से नहीं हो पा रही है। यदि सभी अशिक्षितों को कम से कम समय में शिक्षित करने की योजना बनाई भी जाय तो हमको बहुत बड़ी संख्या में स्कूल खोलने पड़ेंगे और वहाँ शिक्षा से संबंधित सामान जुटाना पड़ेगा। लाखों की संख्या में प्रशिक्षित अध्यापकों की आवश्यकता होगी। इन सबके लिए हमें बहुत अधिक धन की आवश्यकता होगी।

शिक्षा

किसी देश की उन्नति के लिए शिक्षा का विशेष महत्त्व होता है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व भारत में शिक्षित व्यक्तियों की संख्या बहुत कम थी। विदेशी शासकों ने हमारे देश के उद्योग-धंधों को भी बढ़ावा नहीं दिया। और इसीलिए तकनीकी शिक्षा तो नाममात्र को ही थी। एक ओर हमें शिक्षा-प्रसार के लिए प्रशिक्षित शिक्षकों की आवश्यकता पड़ी ; दूसरी ओर उद्योग-धंधों के विकास के लिए प्रशिक्षित मैकेनिक, फिटर, ओवरसीयर तथा इंजीनियरों आदि का भी अभाव था। ऐसी दशा में शिक्षा के क्षेत्र में सीमित साधनों के कारण यह संभव नहीं हो सका कि हम संविधान की इच्छा पूरी कर सकें। अपने देश की आय हमें और भी बहुत से कामों में खर्च करनी होती है।

शिक्षा में प्रगति

फिर भी हमारी सरकार ने शिक्षा की प्रगति पर चौथी पंचवर्षीय योजना में लगभग 808 करोड़ रुपया खर्च करना निर्धारित किया है। इसके पूर्व केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने शिक्षा पर काफी बड़ी धनराशि व्यय की है। उच्च शिक्षा के लिए नए विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई है तथा पुराने विश्वविद्यालयों को आधुनिक

बनाने का प्रयत्न किया गया है। गत बीस वर्षों में विश्वविद्यालयों की संख्या लगभग पाँच गुनी हो गई है।

व्यावसायिक तथा तकनीकी उन्नति के लिए विशेष प्रकार की शिक्षण संस्थाओं की स्थापना हुई है। इस प्रकार की शिक्षा से देश के उद्योग-धंधों के लिए प्रशिक्षित व्यक्ति सुलभ हो जाते हैं। तकनीकी शिक्षा के लिए देश में पाँच श्रेष्ठ संस्थान खोले गए हैं जिन्हें 'इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेकनोलॉजी' का नाम दिया गया है। ये संस्थान दिल्ली, कानपुर, खड़गपुर, मद्रास तथा बंबई में हैं। इनके अतिरिक्त देश के अनेक भागों में 'क्षेत्रीय इंजीनियरिंग कॉलेज' भी खोले गए हैं। छोटे-मोटे उद्योग-धंधो के लिए प्रशिक्षित करने को देश के प्रमुख नगरों में 'औद्योगिक प्रशिक्षण विद्यालय' (इंडस्ट्रियल ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट) बड़ी संख्या में स्थापित हुए हैं। चिकित्सा, कृषि आदि विषयों के अध्ययन हेतु अनेक संस्थाओं की स्थापना हुई है और उनकी संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि की जा रही है। 1965 में शिमला में समाज-शास्त्र से संबंधित विषयों पर शोधकार्य करने के लिए एक अनुसंधान संस्था भी स्थापित की गई है।

प्रौढ़-शिक्षा

शिक्षा की एक अन्य समस्या उन वयस्क लोगों से संबंधित है जिन्हें अपनी बाल्यावस्था में शिक्षा का अवसर नहीं मिला या जिनकी पढ़ाई का क्रम गरीबी अथवा किसी अन्य कारण से टूट गया हो। इस ओर सरकार तथा निजी संस्थाओं ने विशेष प्रयत्न किए हैं, जैसे रात्रि-शालाओं की व्यवस्था, पुस्तकालयों और वाचनालयों का प्रबंध, चलचित्र और रेडियो द्वारा ज्ञान-प्रसारण आदि। रेडियो द्वारा ग्रामवासियों के लिए उनकी समस्याओं के संबंध में उपयोगी वार्ताएँ प्रसारित की जाती हैं। इसके अतिरिक्त भजन-कीर्तन-नाटक आदि के माध्यम से भी प्रौढ़-शिक्षा का आयोजन किया जाता है।

इन सब प्रयत्नों के बाद भी निरक्षरता की समस्या बनी हुई है। लगभग तीन चौथाई लोग अब भी निरक्षर हैं। नगरों की अपेक्षा ग्रामों में यह समस्या अधिक जटिल है। आवश्यकता इस बात की है कि चाहे नगरवासी हों चाहे ग्रामवासी,



वे केवल साक्षर ही न हों बल्कि शिक्षित भी हों। यदि हमारे देश के अधिकांश नागरिक अशिक्षित रहेंगे तो उनमें राजनैतिक चेतना का अभाव होगा। ऐसी दशा में वे न तो अपने अधिकारों का समुचित प्रयोग कर सकेंगे और न कर्तव्यों की पूर्ति कर सकेंगे। स्वार्थी लोग भी उनके भोलेपन, उनकी निरक्षरता तथा अंधविश्वासों से लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे।

कुछ सुझाव

अतः शिक्षा के प्रसार की गति को अधिक तीव्र करने की आवश्यकता है। पाँच वर्ष से ग्यारह वर्ष की आयु तक के प्रत्येक बालक को स्कूल भेजा जाना हर राज्य में अनिवार्य कर दिया जाए। यह भी ध्यान रखा जाए कि जब बालक शिक्षा पूरी कर चुके तो वह किसी काम में लग सके। शिक्षा के पाठ्यक्रम में भी ऐसे सुधार हों कि शिक्षित नवयुवक बेरोजगार न रह सके। शिक्षा का स्तर उठाने के लिए अधिक से अधिक शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए। शिक्षकों के वेतन-क्रम में भी सुधार होना चाहिए जिससे देश के योग्यतम व्यक्ति शिक्षक का कार्य करने के लिए आकर्षित हों।

शिक्षा लोकतंत्र की प्राण है। शिक्षित नागरिक ही लोकतंत्र को आगे बढ़ा सकते हैं। वे ही उसे वास्तविक रूप से जनता का राज्य बना सकते हैं जिसमें सबके हितों की रक्षा समान रूप से हो और जिसका एकमात्र ध्येय जनकल्याण हो।

अभ्यास के प्रश्न

1) शिक्षित नागरिक लोकतंत्र के लिए किस प्रकार अधिक लाभदायक होते हैं ?
2) हमारे देश में शिक्षा की अधिक तेजी से प्रगति क्यों नहीं हो सकी ?
3) व्यावसायिक तथा तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में हमारे देश में क्या प्रगति हुई है ?
4) प्रौढ़-शिक्षा के लिए क्या प्रयत्न किए जा रहे हैं ?
5) एक वाक्य में उत्तर लिखो—

   (क) चौथी पंचवर्षीय योजना में शिक्षा पर व्यय करने को कितनी धनराशि स्वीकृत की गई ?

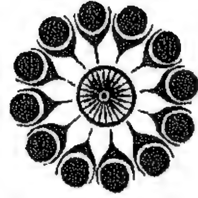
(ख) 'इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेकनोलॉजी' कहाँ-कहाँ खोले गए हैं ?

(ग) शिक्षा के प्रसार का मुख्य दायित्व केन्द्रीय सरकार पर है अथवा राज्य-सरकारों पर ?

कुछ करने को

1) आकाशवाणी से ग्रामीणों के लिए प्रसारित किसी एक दिन के कार्यक्रम को सुनो और उसका संक्षिप्त विवरण लिखो। ग्रामीणों को शिक्षित बनाने के लिए इस कार्यक्रम में सुधार के कुछ सुझाव भी दो।

2) अपने पड़ोस के पाँच ऐसे नवयुवकों के नाम लिखो जो शिक्षित होते हुए भी बेरोजगार हैं। उसका कारण भी पता लगाओ।



3 निर्धनता की समस्या

तुम्हें यह बात सुनने में अजीब लगेगी कि हमारा देश तो धनी है लेकिन यहाँ के रहने वाले निर्धन हैं। अजीब लगने पर भी यह बात सच है।

हमारा देश प्राकृतिक साधनों से संपन्न है। आकार की दृष्टि से भारत संसार का सातवाँ बड़ा देश है। इसका क्षेत्रफल 32·7 लाख वर्ग किलोमीटर है जो ब्रिटेन का लगभग 13 गुना और जापान का 8 गुना है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार की फसलें उगाई जा सकती हैं। इस देश में नदियों का जाल बिछा हुआ है। हिमालय जैसा विशाल और अनेक छोटे-बड़े पर्वत भी हैं। हमारे देश की भूमि खनिज पदार्थों से परिपूर्ण है। हमें समुद्रों से होने वाले लाभ भी सुलभ हो सकते हैं।

इन प्राकृतिक उपहारों का यदि पूरी तरह से उपयोग किया जाए तो भारत के निवासियों का जीवन-स्तर ऊँचा हो सकता है। किन्तु बहुत समय तक विदेशी शासन रहने के कारण हम ऐसा न कर सके। हमारे देश के अधिकतर नागरिक गरीब हैं। उनकी आर्थिक स्थिति शोचनीय है। उनके लिए भोजन, वस्त्र, मकान आदि की सुविधाएँ इतनी कम हैं कि हमें यह मानना पड़ेगा कि निर्धनता की समस्या बहुत विकट है।

हमारे देश की राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति औसत आय दोनों ही उन्नत देशों की अपेक्षाकृत बहुत कम हैं।

आर्थिक दृष्टि से इस देश में धनी और निर्धनों के बीच गहरी खाई है। कुछ तो बहुत धनी हैं लेकिन अधिकतर संख्या उन लोगों की है जिनके जीवन की न्यूनतम आवश्कताएँ भी कठिनता से पूरी हो पाती हैं। जहाँ एक ओर कुछ व्यक्ति बड़े



ठाट-बाट से जीवन व्यतीत करते हैं वहाँ दूसरी ओर लोग कड़ा परिश्रम करके भी अपने परिवार का भरण-पोषण करने में असमर्थ रहते हैं।

आखिर इस निर्धनता का कारण क्या है? कुछ लोगों का विश्वास रहा है कि मनुष्य की अमीरी या गरीबी उसके पूर्व जन्मों का फल है। इसलिए वे निर्धनता को अपना भाग्य मानकर संतोष कर लेते हैं। परंतु यह बात सही नहीं है। निर्धनता के लिए मनुष्य और उसकी सामाजिक परिस्थितियाँ जिम्मेदार हैं।

इस गरीबी का एक मुख्य कारण तो हमारी जनसंख्या है। यद्यपि स्वतंत्रता के बाद हमारे देश ने कृषि के क्षेत्र में और उद्योगों के क्षेत्र में काफी प्रगति की है लेकिन इन बीस-पच्चीस वर्षों में हमारी जनसंख्या भी इतनी अधिक बढ़ी है कि आम जनता के आर्थिक स्तर पर अधिक असर नहीं पड़ा। देश में खुशहाली नहीं आई। स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय हम चालीस करोड़ से कम थे, अब हम 50 करोड़ से अधिक हैं।

हमारी निर्धनता के कारणों में एक यह भी है कि हम अनेक धार्मिक व सामाजिक रीतिरिवाजों के निभाने में फिजूलखर्ची कर डालते हैं। जन्म, विवाह व मृत्यु संबंधी संस्कारों में हम अनावश्यक तथा सामर्थ्य के बाहर खर्च करते हैं। कुछ लोग तो मृत्यु-भोज तक के लिए ऋण ले लेते हैं। इसके अतिरिक्त संयुक्त परिवार प्रणाली के कारण भी परिवार के सभी सदस्य पूर्ण उत्साह और लगन से कार्य नहीं करते। बहुधा एक कमाता है और कई खाते हैं।

साथ ही यह भी सच है कि हमारे देश में कृषि-उत्पादन से जितनी उपज हो सकती है उतनी नहीं हो पा रही है। हमारे अधिकांश किसान पुराने विचार के हैं, वे खेती के नए तरीकों से या तो परिचित नहीं हैं या किसी कारणवश उनका प्रयोग नहीं कर पा रहे हैं। उन्हें अच्छे बीज उपलब्ध नहीं हैं। वे अब भी पुराने ढंग के हल से खेत जोतते हैं। अधिकतर खेत इतने छोटे हैं कि उन पर ट्रैक्टर नहीं चलाया जा सकता। किसानों की फसलों को नाना प्रकार के कीड़े-मकोड़े नष्ट कर देते हैं। नए तरीके, नए लोग और खाद-पानी का अच्छा इंतजाम ही इन कमियों को दूर कर सकता है।

निर्धनता का एक और भी कारण है। हमारे देश में उद्योग-धंधों का विकास तेज़ी से नहीं हुआ। विशेषतः भारी उद्योगों का बड़ा अभाव है। उद्योग-धंधों की कमी के कारण खेती पर जीविका निर्भर करने वालों की संख्या बढ़ती गई। साथ ही बेरोज़गारी भी बढ़ती गई।

समस्या का समाधान

देश की गरीबी को दूर करने के लिए सभी देशवासियों को सबसे पहले अपने

दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना होगा। पुरानी सामाजिक रूढ़ियों का अंधानुकरण करके अनावश्यक व्यय नहीं करना चाहिए। आर्थिक स्थिति तथा नवीन विचारों को ध्यान में रखते हुए सामाजिक या धार्मिक कार्यों में सादगी हो। इसके अलावा संयुक्त परिवार के सभी समर्थ सदस्य किसी न किसी प्रकार का श्रम अवश्य करें। जनसंख्या की वृद्धि में रोकथाम करना तो बहुत ही आवश्यक है। बहुत बड़ा परिवार हो और आमदनी कम हो तो बच्चों का पालन-पोषण भी ठीक से नहीं हो सकता। उन्हें अच्छी शिक्षा नहीं दी जा सकती। कई परिवारों में तो बच्चों को छोटी उम्र से ही बजाय पढ़ाई के नौकरी तथा अन्य धंधे करने पड़ते हैं।

सरकार की ओर से निर्धनता दूर करने के अनेक उपाय काम में लाए जा रहे हैं। 1947 से पूर्व भारत में नाममात्र का उद्योगीकरण हुआ था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हमारे देश में उद्योग-धंधों की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। अब तो हम रेल के इंजन व डिब्बे, सिलाई की मशीनें, रेडियो, साइकिल, टाइपराइटर, टेलीफोन तथा बिजली से चलने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के सामान बनाने लगे हैं। यहाँ तक कि भारी मशीनें भी बनने लगी हैं। अभी तक जितनी औद्योगिक उन्नति हुई है वह काफी नहीं है। देश में और भी अधिक कल-कारखाने, मिलें तथा फैक्ट्रियाँ खोलने की आवश्यकता है। औद्योगिक उत्पादन से व्यापार बढ़ेगा, बेरोजगारों को काम मिलेगा, विदेशी व्यापार से देश को धन की प्राप्ति होगी। हमारे रहने का स्तर ऊँचा होगा।

यदि हम देश को खुशहाल बनाना चाहते हैं तो हमें खेती की पैदावार भी बढ़ानी होगी। कृषि-उत्पादन भारतीय अर्थ-व्यवस्था का आधार है। किसानों को अच्छे बीज, खाद तथा उर्वरक का उपयोग करने के लिए शिक्षित व प्रोत्साहित किया जाए। उन्हें नल-कूप (टयूबवेल) लगाने के लिए सहायता दी जाए। पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा कृषि-उन्नति के लिए प्रचुर व्यवस्था की गई है। इसका विवरण तुम आगे विस्तार से पढ़ोगे।

जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए भी प्रयत्न करने चाहिए जिससे कि हमें कृषि तथा उद्योग-धंधों की उन्नति से पूरा लाभ मिल सके। सरकारी प्रयत्नों

के अतिरिक्त शिक्षा के प्रसार द्वारा छोटे परिवार का महत्त्व समझना चाहिए। उत्पादन अधिक हो तथा जनसंख्या कम हो तभी तो जीवन-स्तर ऊँचा हो सकेगा।

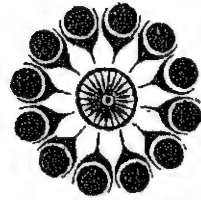
एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि देश का धन मुट्ठी भर लोगों के हाथ में नहीं रहना चाहिए। गरीब और अमीर के बीच की खाई कम करने की आवश्यकता है। सचमुच वह दिन देश के लिए अत्यंत गौरवपूर्ण होगा जब हम आर्थिक दृष्टि से सुखी और संपन्न होंगे।

अभ्यास के प्रश्न

1) यह क्यों कहा जाता है कि हमारा देश धनी है लेकिन यहाँ के निवासी निर्धन हैं ?
2) हमारी निर्धनता के प्रमुख कारण क्या हैं ?
3) अपने देश की निर्धनता कैसे दूर की जा सकती है ?
4) देश की निर्धनता में हमारी बढ़ती जनसंख्या किस प्रकार योग दे रही है ?

कुछ करने को

1) कक्षा में विचार-विनिमय कार्यक्रम का एक आयोजन करो जिसमें गरीबी दूर करने के उपायों पर बातचीत करो। उसकी संक्षिप्त रिपोर्ट भी लिखो।



4 बढ़ती हुई आबादी की समस्या

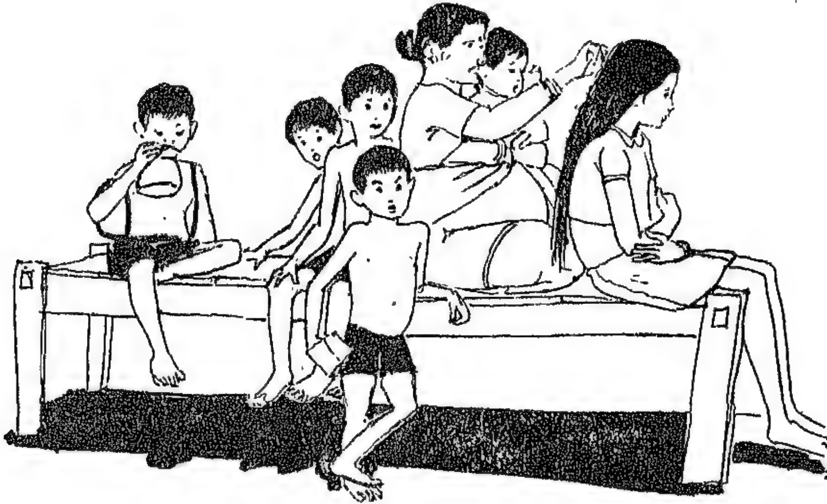
इस समय हमारे सामने सबसे विकट और गंभीर समस्या देश की बढ़ती हुई आबादी है। प्रति वर्ष एक करोड़ से अधिक व्यक्ति हमारी आबादी में बढ़ जाते हैं। अनुमान है कि इस समय भारत की आबादी 52 करोड़ से भी अधिक है।

किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था पर वहाँ की आबादी का प्रभाव अवश्य पड़ता है। जब आबादी तेजी से बढ़ती जाती है तो राष्ट्र की आमदनी के बढ़ने पर भी देश को विशेष लाभ नहीं मिल पाता। उत्पादन चाहे जितना भी बढ़ाया जाए, यदि जनसंख्या उसी अनुपात से बढ़ती गई तो उससे देश की अधिक उन्नति नहीं हो सकती। जिस देश के साधन सीमित हों और आबादी प्रति वर्ष बढ़ती ही जाए तो लोगों का जीवन-स्तर किस प्रकार ऊँचा हो सकेगा? स्पष्ट है कि उस देश की निर्धनता कभी दूर न हो सकेगी।

भारत की आबादी के इतनी तेजी से बढ़ने के क्या कारण हैं? इसका एक कारण तो यह है कि पहले की अपेक्षा अपने देश की मृत्यु-दर कम हो गई है। पिछले साठ वर्ष में यह लगभग एक तिहाई हो गई है। 1910 में प्रति 1000 में 42 लोगों की मृत्यु हो जाती थी किन्तु 1970 में यह दर घटते-घटते 14 व्यक्ति प्रति हजार रह

गई है। स्वास्थ्य और सफाई के जरिए और चिकित्सा के साधनों की उन्नति के कारण यह संभव हो सका है। मृत्यु-दर के और अधिक घटने की आशा है।

मृत्यु-दर का घटते जाना तो अच्छी बात है। अब हम लोग अधिक दीर्घजीवी होने की आशा करते हैं। हमारे देश की औसत आयु का अनुमान अब 54 वर्ष है। हमने अनेक खतरनाक बीमारियों पर विजय प्राप्त कर ली है। मलेरिया का लगभग खातमा हो गया है। चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई है। अब ऐसी अनेक बीमारियों से बचना संभव हो गया है जो कुछ वर्ष पूर्व प्राण लेकर ही रहती थीं।



आबादी में वृद्धि का दूसरा कारण जन्म-दर में होने वाली वृद्धि है। अनुमान लगाया गया है कि प्रति हजार लोगों पर लगभग चालीस बच्चे प्रति वर्ष जन्म लेते हैं। अनेक देशों की तुलना में यह जन्म-दर बहुत अधिक है। उदाहरण के लिए सोवियत रूस में जन्म-दर प्रति वर्ष प्रति हजार 25 है, अमरीका में 23·6,

फ्रांस में 18, इंग्लैंड में 17·5 तथा जापान में 17·2। इस प्रकार हमारे देश की आबादी 2·5 प्रतिशत के हिसाब से प्रति वर्ष बढ़ रही है जबकि रूस में 1 प्रतिशत, अमरीका में 1·1 प्रतिशत और जापान में ·9 प्रतिशत। इस दर से यदि हमारी जनसंख्या बढ़ती रही तो इस शताब्दी के समाप्त होने के पहले ही हमारी संख्या दुगुनी हो जाएगी, और फिर हमारी समस्याएँ कहीं अधिक जटिल हो जाएँगी। भोजन के साथ-साथ जनसंख्या के अधिक होने के कारण शहरों में भीड़, मकानों की कमी, रेल और बसों के लिए लंबे क्यू, वातावरण का धुएँ और गंदगी से दूषित होना, बेरोजगारी आदि बहुत सी समस्याएँ और बढ़ जाएँगी। इस समय भी हमारे देशवासियों को औसतन प्रति दिन जो भोजन प्राप्त होता है उससे उनको केवल 2000 कैलोरीज प्राप्त होती हैं जबकि एक स्वस्थ मनुष्य को 3000 कैलोरीज प्रतिदिन मिलनी चाहिए।

हमारे देश में ऊँची जन्म-दर का मुख्य कारण व्यापक विवाह-प्रथा है। प्राय: लड़के या लड़की के वयस्क होते ही माता-पिता उसका विवाह कर देते हैं। आर्थिक स्थिति खराब होने पर भी विवाह कर दिया जाता है। यद्यपि देश में अल्प वयस्क के विवाह करने को रोकने के लिए कानून है लेकिन बहुत से लोग छोटी उम्र के ही बच्चों का विवाह कर देते हैं। आबादी में वृद्धि का एक कारण निर्धनता भी है। यह भी देखा गया है कि निर्धन व्यक्तियों के संतानें अधिक होती हैं। कुछ तो यह सोचते हैं कि जितने अधिक बच्चे होंगे, उनको अपने व्यवसाय में उतनी ही अधिक सहायता मिलेगी। जब बच्चे उनके काम में हाथ बटाएँगे तो उनकी आमदनी बढ़ जाएगी। निर्धनता के कारण उनके बच्चे छोटी ही आयु में काम करने लग जाते हैं। लेकिन वे गरीबी के कारण कोई कौशल नहीं सीख पाते और मामूली मजदूरों की तरह काम करते हैं। ऐसे लोगों की संख्या दिन प्रति दिन बढ़ती जाती है जिससे कि बेरोजगारी बढ़ रही है।

प्राचीन काल में जन्म-दर घटाने की आवश्यकता महसूस नहीं हुई क्योंकि उस समय आबादी इतनी अधिक नहीं थी कि लोगों का भरण-पोषण न हो सके। इसके अतिरिक्त यह बात भी थी कि प्राकृतिक प्रकोप से जनसंख्या स्वत: घट जाती थी। इनमें मुख्यरूप से महामारी, अकाल, बाढ़, भूचाल आदि थे। युद्ध से भी

आबादी घट जाती है। यद्यपि युद्ध तो आज भी होते हैं किन्तु विज्ञान और चिकित्सा की प्रगति ने प्रकृति के प्रकोपों पर बहुत कुछ नियंत्रण कर लिया है।

आबादी रोकने के उपाय

अब यह आवश्यक हो गया है कि आबादी को सीमित करने के लिए कुछ उपाय सोचा जाए। वास्तव में निरक्षरता के कारण, अंधविश्वास के कारण और कुछ धार्मिक रूढ़ियों के कारण बहुत से लोग बच्चों को केवल भाग्य के ऊपर निर्भर समझते हैं। शिक्षा से इस भ्रांति को दूर करने की आवश्यकता है। आज विज्ञान के युग में इस प्रकार की लाचारी दिखाना और भाग्य का सहारा लेना न उचित ही है और न देश के हित में ही। आज के युग में विज्ञान के साधनों द्वारा यह संभव हो सका है कि छोटे और बड़े परिवार के बारे में व्यक्तिगत रूप से निश्चय किया जा सके। परिवार नियोजन के तरीके यह निश्चय लेने में सहायता दे सकते हैं। वास्तव में हमारा ही निश्चय हमारा परिवार बनाता है।

परिवार नियोजन के बारे में अनेक भ्रांतियाँ हैं। कुछ लोग इसे धर्म के प्रतिकूल मानते हैं। कुछ अन्य लोग यह समझते हैं कि शारीरिक और मानसिक दृष्टि से यह हानिकारक है। ऐसी भ्रांतियों को दूर करने के लिए जनता में सही ही दृष्टिकोण रखने का कार्यक्रम अपनाना होगा। उन्हें यह बतलाना होगा कि न तो यह-धर्म के प्रतिकूल है और न यह किसी प्रकार से हानिकारक है। यदि हमें आबादी पर नियंत्रण रखना है तो इस प्रकार का कदम उठाना आवश्यक होगा। जनमत को इसके पक्ष में करने के लिए सूचना-प्रसार के सभी साधन उपयोग में लाए जाएँ, जैसे—पोस्टर, इश्तहार, रेडियो, पत्र-पत्रिकाओं आदि के माध्यम का समुचित प्रयोग किया जाता। लोगों को इस बात के लिए भी प्रेरित किया जाए कि छोटी आयु में विवाह न करें। ऐसा करने से बच्चे जल्द होना शुरू हो जाते हैं।

इसलिए हम सभी देशवासियों का कर्त्तव्य है कि बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या के हल करने में अपना सहयोग प्रदान करें। इसकी वृद्धि-दर को सीमित करने से ही हम देश के भविष्य को उज्ज्वल बना सकेंगे। इससे हमारी निर्धनता दूर होगी और रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा होगा। यदि हम जनसंख्या को सीमित न कर

सके तो देश के विकास की योजनाएँ विफल हो जाएँगी और हम आर्थिक संपन्नता के लक्ष्य को प्राप्त न कर सकेंगे।

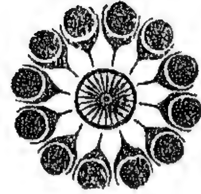
अभ्यास के प्रश्न

1) किसी देश की आबादी बढ़ जाने से क्या हानि होती है ?
2) अपने देश में आबादी के तेजी से बढ़ने के क्या कारण हैं ?
3) आबादी में वृद्धि रोकने के क्या उपाय हैं ?
4) प्राचीन काल में आबादी की वृद्धि रोकने की आवश्यकता की ओर लोगों का ध्यान नहीं गया। सबसे अधिक सही कारण पर (√) चिन्ह लगाओ—
   (क) उस समय आजकल की अपेक्षा अधिक पैदावार होती थी।
   (ख) देश में आबादी की वृद्धि-दर बहुत कम थी।
   (ग) लोगों को आबादी सीमित करने के उपाय नहीं मालूम थे।
   (घ) सम्मिलित परिवार की प्रथा होने से अधिक बच्चों का होना हानिकारक न था।

कुछ करने को

एक छोटे और एक बड़े परिवार में रहन-सहन की तुलना केवल निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत करो—

1) शिक्षा की सुविधाएँ।
2) पौष्टिक भोजन (घी, दूध, फल, अंडे आदि) की सुविधाएँ।
3) मनोरंजन के साधनों (रेडियो, चलचित्र, पर्यटन आदि) की सुविधाएँ।



5 जाति-पाँति की समस्या

जाति-प्रथा या वर्ण-व्यवस्था भारत में बहुत पुरानी है। साधारणतः एक जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करते हैं। हमारे देश में बहुत सी जातियाँ तो ऐसी हैं जिनके सदस्य दूसरी जाति के लोगों के साथ खाना-पीना भी पसंद नहीं करते। प्राचीन काल में चार ही वर्ण थे : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

धीरे-धीरे इनकी उपजातियाँ बन गई, जैसे ब्राह्मणों में कनौजिया, सारस्वत आदि। अनुमान है कि भारत में आज लगभग 3000 जातियाँ अथवा उपजातियाँ हैं। ऐसा लगता है कि प्रारंभ में व्यवसाय-योग्यता के आधार पर सामाजिक वर्ग बने होंगे। जो लोग शास्त्र-विद्वता में निपुण थे, वे ब्राह्मण कहलाए। जो लोग युद्ध कौशल में निपुण थे वे क्षत्रिय। वाणिज्य-व्यापार में लगे हुए व्यक्ति वैश्य कहे जाने लगे और शेष शूद्र। इस प्रकार व्यावसायिक योग्यता और क्षमता के आधार पर इन जातियों का प्रादुर्भाव हुआ होगा। कालांतर में जातियाँ जन्म के आधार पर बन गई। जाति-प्रथा की एक कमजोरी यह भी है कि कुछ जातियाँ तो ऊँची मानी जाती हैं और कुछ नीची।

जो बालक जिस जाति में जन्म लेता है वह उसी जाति का सदस्य बन जाता है। वह अपनी जाति छोड़ कर दूसरी जाति में नहीं जा सकता। यहाँ तक कि

उसका रहन-सहन और रीति-रिवाज भी उसकी जाति में प्रचलित व्यवहारों के अनुसार निर्धारित होती है। अगर वह जाति के रीति-रिवाजों का उल्लंघन करे तो इससे उसकी जाति वाले अप्रसन्न हो जाते हैं। कभी-कभी गाँवों में तो उसे दंड भी भुगतना पड़ता है।

जाति-व्यवस्था को जन्मजात बनाने में धर्म की रूढ़ियों ने बड़ी सहायता की है। यह कहा जाता था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मानुसार उच्च या निम्न परिवार, कुल अथवा जाति में जन्म लेता है। धीरे-धीरे इस विचार ने धर्म का बाना ही पहन लिया।

धर्म से संबंधित होने के कारण, जाति व्यवस्था के नियम भी धर्म की ही भाँति पवित्र बन गए। अतः जाति के बाहर विवाह करना, या अपने से नीची जाति वाले सदस्यों के साथ खाना-पीना धर्म विरुद्ध घोषित कर दिए गए। जाति-व्यवस्था के आधार पर ही क्या खाने योग्य हैं और क्या नहीं निर्धारत होने लगा। यहाँ तक कि समुद्र-यात्रा को भी वर्जित माना जाने लगा।

प्राचीन काल में जाति-व्यवस्था से कुछ लाभ भी थे। यह श्रम विभाजन का एक अच्छा तरीका था। प्रत्येक बालक बचपन से ही अपने पारिवारिक पेशे में लग सकता था और बड़ा होकर उसमें निपुणता प्राप्त कर सकता था। इस व्यवस्था से जाति में प्रेम, भाईचारा, तथा सहयोग के भाव बढ़ते थे। लोग सुख-दुख में एक दूसरे का हाथ बटाते थे।

परंतु इस व्यवस्था का दुरुपयोग होने लगा। शूद्रों के साथ बड़ा अत्याचार हुआ। वे तो जन्म-जन्मांतर के लिए हीन बन गए। कुछ को तो अछूत कहा और माना गया। उनका स्पर्शमात्र भी पाप माना जाने लगा। उन्हें नगर से बाहर रहने के लिए कहा गया और किसी भी सामाजिक उत्सव, समारोह अथवा संस्था में उनको कोई स्थान नहीं दिया गया।

ऐतिहासिक दृष्टि से जाति-व्यवस्था देश के आर्थिक विकास में बहुत बाधक सिद्ध हुई। जो बालक जिस जाति में जन्म लेता, वह उस जाति के व्यवसाय को ही अपनाता था, चाहे देश को उस व्यवसाय की उतनी आवश्यकता होती अथवा नहीं, वस्तुओं की माँग घटने-बढ़ने के साथ-साथ लोग अपना व्यवसाय नहीं बदल

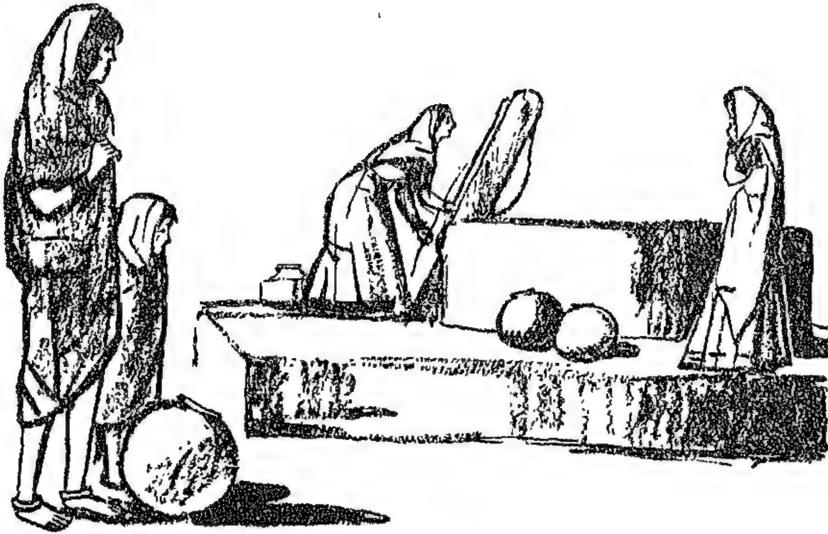
सकते थे क्योंकि एक जाति से दूसरी जाति में जाना आसान नहीं था। प्रत्येक नवयुवक को अपने पूर्वजों के व्यवसाय को ही अपनाना पड़ता था चाहे उसे वह व्यवसाय पसंद हो अथवा नहीं। जाति-प्रथा ने व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता पर गहरी चोट की। इसका फल यह हुआ कि कार्यक्षमता घट गई और व्यक्तिगत साहस और उत्साह बहुत कुछ समाप्त हो गया। ये बातें अब धीरे-धीरे कम हो रही हैं, लेकिन कुछ पिछड़े गाँवों में अभी भी ये देखने में आती हैं।

जाति-प्रथा ने भारतीय समाज को अलग-अलग वर्गों में विभाजित कर दिया। इससे राष्ट्रीय एकता को गहरी ठेस लगी। जातीयता की संकीर्ण भावना से प्रेरित होकर बहुत से लोग संपूर्ण भारतीय समाज के हित को भूल गए और अपनी श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए आपस में जूझते रहे। दुर्भाग्य से अब भी चुनाव आदि अवसरों पर जनता में ये भावनाएँ देखने में आती हैं जिससे अच्छे प्रजातंत्र को चोट लगती है।

जाति-व्यवस्था के इन दोषों की ओर अनेक समाज-सुधारकों का ध्यान गया। स्वामी रामानंद, कबीर, राजा राममोहन राय, ईश्वर चंद्र विद्यासागर और दयानंद सरस्वती आदि ने जाति-प्रथा की तीव्र आलोचना की। महात्मा गांधी ने अछूतों के साथ किए जाने वाले सामाजिक अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाई।

आधुनिक काल में शिक्षा, विज्ञान तथा अनेक स्थितियों के फलस्वरूप जाति-व्यवस्था के बंधन ढीले पड़ने लगे हैं। पाश्चात्य शिक्षा ने लोगों का ध्यान इस व्यवस्था की बुराइयों की ओर आकर्षित किया। देश के औद्योगीकरण से इसमें सुधार आया। यातायात के साधनों ने भी इस दिशा में बहुत कार्य किया है। रेल, बस आदि में एक साथ यात्रा करने तथा नगर-जीवन के विकास ने इसका प्रभाव कम कर दिया है। गांधी जी के नेतृत्व में सभी भारतवासियों ने बिना जाति-पाँति का विचार किए, स्वतंत्रता-संग्राम में भाग लिया।

स्वतंत्रता मिलने के बाद हमारे देश का संविधान बना। अस्पृश्यता को अवैध घोषित कर दिया गया और यह व्यवस्था की गई कि जाति-पाँति के आधार पर राज्य द्वारा कोई भेदभाव न किया जाए तथा शिक्षा, रोजगार आदि में सबको समान अवसर प्राप्त हो। कुआँ, तालाब, मंदिर, होटल, रेस्तराँ, सिनेमाघर अथवा अन्य



सार्वजनिक स्थानों में जाति के आधार पर किसी को रोका न जाए। इस प्रकार हमारे संविधान में सामाजिक समानता पर जोर दिया गया है। छुआछूत संविधान की नजर में उचित नहीं है। हमें भी इसे अपने समाज से निकाल ही देना चाहिए।

इन सब के होते हुए भी देश में जाति-प्रथा के कड़े बंधन कायम हैं। अंतर्जातीय विवाह व खान-पान अभी भी सीमित हैं। गाँवों में जाति-प्रथा का प्रभाव अब भी दिखाई पड़ता है। जातीयता के आधार पर आज भी पक्षपातपूर्ण व्यवहार होता है। इसके प्रति भी हमारे क्या कर्तव्य हैं इस पर हमें विचार करना चाहिए।

राष्ट्रीय उन्नति के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता, क्षमता और शिक्षा के अनुसार राष्ट्रीय जीवन में स्थान प्राप्त हो। मतदान, नियुक्तियाँ शिक्षा-संस्थानों में प्रवेश यदि जाति-पाँति को देखकर होगा तो न केवल योग्य व्यक्ति उचित स्थान पाने से वंचित रह जाएँगे, वरन् अयोग्य व्यक्ति इन स्थानों में पहुँच जाएँगे। अतः लोकतंत्र को सफल बनाने के लिए इस प्रकार की जातीयता की मनोवृत्ति का अंत करना ही होगा।

इस समस्या का समाधान सरल नहीं है। इसे मिटाने के लिए उचित शिक्षा का प्रसार आवश्यक है। अच्छी शिक्षा से ही मनुष्य की मनोवृत्ति उदार बनती है। उसमें व्यापक दृष्टिकोण उत्पन्न होता है। जाति-पाँति को सबल बनाने में हमारी गरीबी का भी बड़ा हाथ रहा है। जब नौकरियाँ मिलनी कठिन हों तो जाति-पाँति का नाम लेने वाली स्थितियाँ नौकरी देने वाले को प्रभावित करती हैं। नौकरी देने वाला भी सजातीय बंधुओं की सहायता करने की सोचता है। यदि रोजगार की कमी न हो तो कोई इसका सहारा क्यों लेगा ? आर्थिक समृद्धि से जातीयता की भावना को मिटाने में सबसे बड़ी सहायता मिलेगी।

अभ्यास के प्रश्न

1) प्राचीन काल में हिन्दुओं के प्रमुख वर्ण कौन थे ?

2) प्रारंभ में हिन्दुओं में वर्ण-व्यवस्था का क्या आधार था ?

3) जन्म के आधार पर जाति निश्चित हो जाने की प्रथा के क्या दोष हैं ?

4) हमारे देश के संविधान ने जाति-पाँति के भेद-भाव मिटाने के लिए क्या नियम बनाए हैं ?

5) क्या जाति-पाँति के कड़े नियमों को आप उचित समझते हैं ? यदि नहीं तो आप अपने क्षेत्र में क्या करेंगे ?

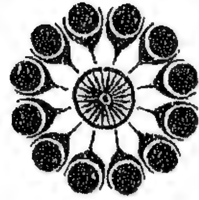
6) नीचे लिखे वाक्यों में जिन्हे आप ठीक समझते हों उन पर सही (✓) का निशान लगाइए :

(क) हमारी उन्नति के लिए सब सरकारी नौकरियाँ ऊँची जाति वालों को मिलनी चाहिए।

(ख) छुआछूत से देश को हानि पहुँचती है।

(ग) जाति-व्यवस्था हमारे आर्थिक विकास में सहायक है।

(घ) हमारे राष्ट्रीय आंदोलन में केवल उच्च जाति के लोगों ने भाग लिया था।



6 अन्य सामाजिक समस्याएँ

जाति प्रथा का सबसे बड़ा कलंक अस्पृश्यता है। देश में कुछ वर्गों को अछूत माना गया है। इनका स्पर्शमात्र पाप माना जाता है। कुछ वर्ष पूर्व तो यह दशा थी कि गाँवों में कुँओं और तालाबों पर ये लोग पानी तक नहीं भर सकते थे और इनकी बस्तियाँ आबादी के बाहर होती थीं।

हमारे देश की जनसंख्या में लगभग 21 प्रतिशत लोग अछूत हैं। इतनी बड़ी संख्या को हीन समझकर यदि हम उसे समाज से बाहर मानेंगे तो हमारे लोकतंत्र को वास्तव में लोकतंत्र नहीं कहा जा सकेगा। इस प्रकार का भेद-भाव वास्तव में लोकतंत्र के आदर्शों के विरुद्ध है। जैसा कि पिछले अध्याय में बताया जा चुका है अनेक समाज-सुधारकों ने इस सामाजिक कुरीति के विरुद्ध आवाज उठाई। महात्मा गांधी ने तो अछूत शब्द का ही प्रयोग करना बंद कर दिया। उन्होंने अछूतों को 'हरिजन' कहकर पुकारा तथा छुआछूत की भावना को अनैतिक बताया। वे स्वयं दिल्ली में भंगी-बस्ती में रहे। उनके आश्रम में छुआछूत का भेद-भाव नहीं रखा जाता था। उन्होंने स्वतंत्रता-संग्राम में सब भारतवासियों का, बिना जाति-पाँति का भेद-भाव किए, आह्वान किया था। राष्ट्रीय आंदोलन के द्वार सबके लिए खुले थे। जगह-जगह पर सामाजिक भोज आयोजित किए गए, वहाँ जाति-पाँति के

बंधन तोड़कर हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र सभी सम्मिलित होते थे।

जिस प्रकार जाति-पाँति के बंधन ढीले पड़ते गए उसी प्रकार अछूतों के प्रति भी लोगों का दृष्टिकोण उदार होता गया। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात हमारे संविधान ने समानता के आदर्श को स्वीकार किया। जाति, रंग, लिंग, धर्म आदि के आधार पर भेद-भाव किया जाना संविधान द्वारा वर्जित है। साथ ही यह व्यवस्था भी की गई है कि अनुसूचित जातियों और जन-जातियों के उद्धार के लिए उन्हें विशेषाधिकार और सुविधाएँ दी जाएँगी, उदाहरणार्थ 1980 तक विधान सभाओं और लोक सभा में कुछ स्थान इनके लिए सुरक्षित होंगे। इसी प्रकार सरकारी नौकरियों में भर्ती करते समय उनका विशेष ध्यान रखने का आदेश संविधान देता है। इस आदेश का पालन करते हुए सरकारी नौकरियों में कुछ स्थान इनके लिए सुरक्षित हैं। अस्पृश्यता का व्यवहार करनेवालों के लिए 1955 के कानून द्वारा दंड की व्यवस्था की गई है।

किन्तु केवल कानून से सबको समानता का अधिकार देने से सब समान नहीं बन सकते। शताब्दियों की दरिद्रता, हीनता, निर्बलता क्या कानूनी समानता की व्यवस्था कर देने मात्र से मिट सकती है? शूद्रों को स्कूलों में प्रवेश पाने का अधिकार हो भी तो क्या! यदि उनके पास फीस देने के लिए अथवा किताबें खरीदने के लिए धन न हो तो ऐसे अधिकार से क्या लाभ? इसी प्रकार, यदि परंपरागत भेद-भाव के कारण शूद्र अन्य जातियों के वोट न प्राप्त कर सकें तो वोट देने-पाने और चुनाव लड़ने के अधिकार से क्या लाभ?

अतः यह उचित ही है कि शूद्रों को परंपरागत हीनता, निरक्षरता, निर्धनता और दुर्बलता को दूर करने के लिए उन्हें विशेष अधिकार और सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। उनकी शिक्षा के लिए सरकार ने विशेष सुविधाएँ दी हैं। इसके अतिरिक्त उनके लिए प्रचुर मात्रा में छात्रवृत्तियाँ भी दी जाती हैं। प्रत्येक प्रदेश में हरिजन कल्याण विभाग हरिजनों के हित में कार्य कर रहा है। अच्छे नागरिक के नाते आप इस समस्या को दूर करने के लिए किस प्रकार सहायक हो सकते हैं? इस पर विचार कीजिए।

भिखमंगी

हमारे समाज में भिखमंगी की समस्या ने भी भीषण रूप धारण कर लिया है। भिक्षा माँगने वाले दो प्रकार के हैं। एक तो साधु-संन्यासी हैं जो संसार से विरक्त हो गए हैं तथा भिक्षा पर निर्भर हैं। दूसरे, वे लोग हैं जो भीख माँगने को व्यवसाय के रूप में ग्रहण करते हैं। साधुओं के वेश में ऐसे भी अनेक भिखारी पाए जाते हैं जो तरह-तरह से जनता की सहानुभूति पाने का प्रयास करते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो छोटे-छोटे बच्चो को पंगु बनाकर उनसे भीख मँगवाते हैं। बहुधा भिखारियों में हर प्रकार के दुर्व्यसन होते हैं। उनमें आत्म-सम्मान की भावना नहीं रहती।

अतः भिखमंगी बंद होनी चाहिए और भिखारियों को किसी रोजगार में लगाना चाहिए।

हमारे देश में कई राज्यों में भिखमंगी को एक कानूनी अपराध घोषित किया गया है। भीख माँगने वालों को कारावास और जुर्माना दोनों दंड दिए जा सकते हैं। रेलों में भिखमंगी रोकने के लिए अलग से कानून हैं। परंतु इन कानूनों के होते हुए भी भिखमंगी को समाप्त नहीं किया जा सका है।

आवश्यकता इस बात की है कि इन कानूनों को कड़ाई से लागू किया जाए। भिखारियों के प्रशिक्षण का प्रबंध होना चाहिए ताकि वे दस्तकारी या कोई कला या धंधा सीखकर अपनी आजीविका कमा सकें। भिखमंगी रोकने में जनता का सहयोग आवश्यक है। हट्टे-कट्टे व्यक्तियों को यदि जनता भिखमंगी का धंधा अपनाए रहने के लिए प्रोत्साहित करेगी तो राष्ट्र में निकम्मे लोगों की संख्या बढ़ेगी तथा राष्ट्रीय आय में ह्रास होगा।

मद्यपान

एक अन्य महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्या मद्यपान की है। इसको सुलझाने का गांधी जी ने बहुत प्रयास किया था। उन्हीं के उपदेशों के फलस्वरूप मद्यनिषेध को राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों में सम्मिलित किया गया।

इसको कार्यान्वित करने के लिए 1954 में एक मद्यनिषेध-जाँच-समिति की नियुक्ति की गई। 1956 में जाँच-समिति की सिफारिशों को स्वीकार करते हुए

लोक सभा ने इस कार्यक्रम को देश के विकास-कार्यक्रम के अंतर्गत शामिल करने का प्रस्ताव पारित किया। तीसरी पंचवर्षीय योजना में इस पर बहुत बल दिया गया।

अनेक राज्यों में मद्यपान पर पूर्ण या आंशिक रूप से नियंत्रण लगाए गए हैं। किन्तु कानून के द्वारा सामाजिक दोषों को पूर्णतया बंद करना संभव नहीं है। इन्हें जन-सहयोग तथा जनमत के द्वारा दूर किया जा सकता है। उसके लिए भी जनता को शिक्षित किया जाना चाहिए। लोगों को यह स्पष्ट हो जाना



चाहिए कि मदिरापान से नागरिकों का स्वास्थ्य गिर जाता है तथा उनमें चरित्रगत दुर्बलताएँ आ जाती हैं। ये राष्ट्र की उन्नति में बाधक हैं।

इसलिए सरकार और जनता दोनों का ही कर्तव्य है कि जनता के स्वास्थ्य

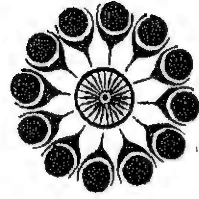
की रक्षा की जाए। उन्हें चाहिए कि अनाचारों और दुर्व्यसनों से रोकने तथा भाईचारे की भावना से प्रेरित होकर समाज की उन्नति करें। हमें यह न भूलना चाहिए कि लोकतंत्र की सफलता सच्चरित्र, सदाचारी और शिक्षित नागरिकों पर ही निर्भर है।

अभ्यास के प्रश्न

1) 'अछूत' किन्हें कहा गया है ?
2) हरिजनों को कौन सी विशेष सुविधाएँ मिली हुई हैं ?
3) अस्पृश्यता-निवारण के संबंध में अपने संविधान में क्या उल्लेख है ?
4) भिखमंगी के क्या दोष हैं ?
5) भिक्षमंगी रोकने के उपायों को लिखो।
6) संक्षेप में उत्तर दो—
   (क) 'मद्यनिषेध' से क्या अभिप्राय है ?
   (ख) गांधी जी ने अछूतों को किस नाम से पुकारा ?
   (ग) 'मद्यनिषेध' के पक्ष में कोई एक तर्क दो।
   (घ) भिक्षमंगी को व्यवसाय के रूप में अपनाए जाने के विपक्ष में एक तर्क प्रस्तुत करो।

कुछ करने को

1) संविधान में दिए गए अस्पृश्यता-उन्मूलन संबंधी वाक्यों को तथा इसी संबंध में गांधी जी द्वारा कही गई कुछ उक्तियों को लिखकर कक्षा में टाँगो।
2) किसी भिखारी से निम्नलिखित प्रश्न पूछो और उसके उत्तर के साथ अपना मत भी दो — (अ) वह भीख क्यों माँगता है ? (आ) क्या वह दूसरा धंधा अपनाने के लिए तैयार है ?
3) 'मद्य-निषेध सभी राज्यों में अनिवार्य कर दिया जाए' विषय पर अपनी कक्षा में वाद-विवाद प्रतियोगिता आयोजित करो।



7 ग्रामीण जीवन की समस्याएँ

भारत गाँवों का देश है। गाँवों में ही भारतीय जीवन का वास्तविक चित्र देखा जा सकता है। एक ओर हमें ग्रामीण जीवन के उज्ज्वल पक्ष का चित्र मिलता है—वहाँ के लोग प्रकृति के निकटतम संपर्क में रहते हैं, उनमें बनावटीपन नहीं होता, वे सरल स्वभाव वाले, निष्कपट, ईमानदार और भोले-भाले होते हैं। दूसरी ओर हमें ग्रामीण जीवन के कुछ दोष भी दिखलाई पड़ते हैं। संकीर्णता, सांप्रदायिकता, दरिद्रता व रूढ़िवादिता वहाँ की मुख्य समस्याएँ हैं।

गाँवों का परंपरागत जीवन

अधिकांश गाँव छोटे होते हैं। अधिकांश गाँवों में 500 से भी कम आबादी है। कम आबादी होने के कारण गाँवों का समाज एक बड़े परिवार तुल्य होता है। लगभग सभी लोग एक दूसरे को जानते हैं। किसी की कोई बात गुप्त रह सकना कठिन है। लोग अपने आचरण के विषय में काफी सजग रहते हैं क्योंकि छोटे दायरे में रहने के कारण सामाजिक प्रतिक्रिया तीव्र और तुरंत होती है। अतः ग्रामवासियों के लिए रीति-रिवाजों के प्रतिकूल चलना कठिन होता है।

गाँवों में जाति-पाँति का बंधन अब भी काफी मजबूत है। इस कारण वहां काम-धंधे अब भी अधिकतर इससे प्रभावित होते हैं। छुआछूत का भी बोल-बाला बना हुआ है। यह बात नहीं कि जाति-प्रथा ने ग्रामवासियों को कोई लाभ नही पहुँचाया है। जाति-व्यवस्था ने गाँवों को कुछ सीमा तक आत्म-निर्भरता प्रदान की है। प्रत्येक गाँव अपनी आवश्यकता की लगभग सभी वस्तुएँ उपलब्ध कर लेता है किसान अनाज पैदा करता है, जुलाहा कपड़ा बुनता है, चमार चमड़े की चीजें तैयार करता है, लुहार औजार, हल आदि बनाता है, बढ़ई लकड़ी की चीजें, कुम्हार मिट्टी की और सुनार सोने-चाँदी की चीजें बनाता है। इस प्रकार उनकी प्रतिदिन की आवश्यकताएँ गाँव में ही पूरी हो जाती हैं। लेकिन बहुत दिन से उनमें समय के अनुसार परिवर्तन नहीं हुआ है, वे बहुत कुछ लकीर के फकीर बने रहे हैं। समय के अनुसार इन्हें बदलने की आवश्यकता है। खेती के नए तरीकों से इनमें अब परिवर्तन आ रहा है।

अशिक्षा

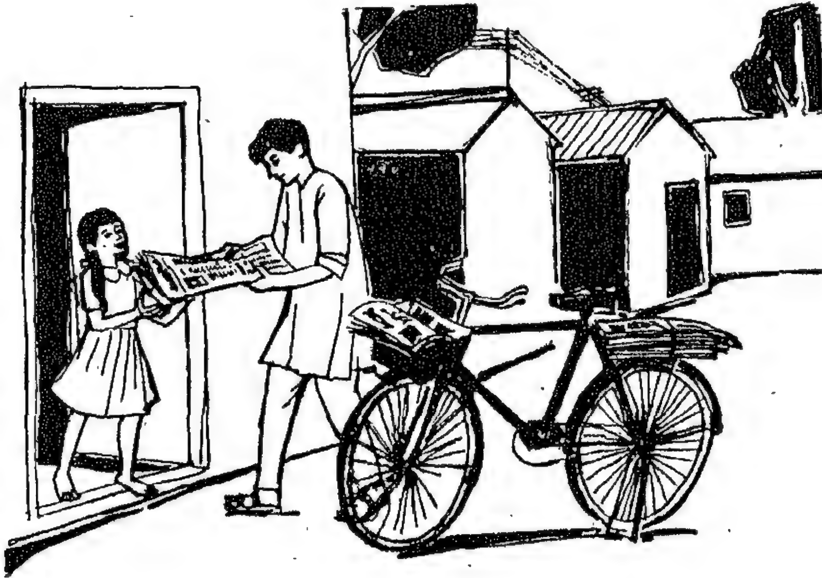
गाँवों में अशिक्षितों की संख्या नगरों की अपेक्षा बहुत अधिक है। ग्रामीण महिलाओं में तो शिक्षा की कोई परंपरा ही नहीं रही। इसलिए गाँवों में नगर की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक पिछड़ी हुई हैं। शिक्षा में पिछड़े होने के कारण ग्रामवासी सामाजिक कुरीतियों और दरिद्रता के शिकार बने रहे और उनकी आर्थिक प्रगति भी न हो सकी। अतः गांधी जी ने ग्राम-सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया और अपनी सुधार-योजना में शिक्षा पर अधिक बल दिया। लोकतंत्र में तो जनता का शिक्षित होना बहुत ही आवश्यक है।

आर्थिक-जीवन

गाँवों में अधिकांश लोग खेती-बाड़ी पर निर्भर रहते हैं। भारत में विभिन्न उद्योग-धंधों में लगी हुई जनता का 82% भाग खेती, पशुपालन, मछली पकड़ने, आखे और वनों से अपनी जीविका कमाता है। परंतु खेती की दशा बहुत पिछड़ी हुई है हमारे यहाँ प्रति एकड़ उपज अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम होती है।

इसके अनेक कारण हैं। बहुत समय तक जमींदारी प्रथा बने रहने के फलस्वरूप किसानों को अनेक प्रकार के अत्याचार सहने पड़े। जिस भूमि को वह जोतते-बोते थे उससे उन्हें किसी भी समय बेदखल कराया जा सकता था। लगान बहुत अधिक था और उनको जमींदारों के यहाँ बेगार करनी पड़ती थी। जमींदारी प्रथा को कानून के द्वारा समाप्त कर देने के बाद स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ लेकिन खेतिहर मजदूरों की आर्थिक दशा में और भी सुधार किए जाने की आवश्यकता है।

दूसरी बात यह है कि भूमि के वितरण में बड़ी असमानता है। भूमि का एक बड़ा भाग कुछ मुट्ठी भर लोगों के हाथ में है। अधिकांश किसानों के खेत बहुत छोटे हैं। वे एक स्थान पर न होकर कई स्थानों पर बिखरे हैं। ऐसे खेतों पर खेती करना लाभकारी नहीं हो सकता। अच्छी खाद और अच्छे बीज भी किसान नहीं जुटा सकता। उसे सदा धन का अभाव रहता है। उसे साहूकार से ऋण लेना पड़ता है जो उससे मनमाना सूद वसूल करता है और उसको हर प्रकार से छलता है।



इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि भारतीय किसानों को आधुनिक खेती के तरीकों का ज्ञान नहीं है। वे इनमें परिवर्तन लाने के लिए सरलता से सहमत नहीं होते। नए ढंग की खेती करने के लिए अच्छे बीज और अच्छी खाद अत्यंत आवश्यक है। नए प्रकार के हलों तथा ट्रैक्टरों का भी प्रयोग किया जाना चाहिए। साथ ही शिक्षा, प्रदर्शिनी, जनप्रचार के अन्य साधन (रेडियो, समाचारपत्र, नाटक, मेले आदि) के द्वारा किसानों की संपूर्ण मनोवृत्ति में परिवर्तन लाना होगा।

सुधार - योजनाएँ

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात ग्राम-सुधार के लिए अनेक योजनाएँ बनाई गईं और उनके अंतर्गत ठोस कार्य भी किए जा रहे हैं। गाँवों की विकास संबंधी योजनाओं में सामुदायिक विकास योजना प्रमुख है। इसके विषय में तुम पिछली कक्षा में विस्तारपूर्वक पढ़ चुके हो। गाँव पंचायत, पंचायत समिति और जिला परिषद् अपने क्षेत्र की विकास-योजनाएँ तैयार करती हैं। इन विकास योजनाओं में खेती का महत्त्व सबसे अधिक है। खेती के अतिरिक्त स्वास्थ्य सुविधाओं का विस्तार, निर्धन और निर्बल व्यक्तियों के लिए पोषण-कार्यक्रम, स्त्रियों एवं जनजातियों के कल्याण की विशेष योजनाएँ भी सामुदायिक विकास कार्यक्रम की मुख्य अंग हैं।

विभिन्न ग्रामीण क्षेत्रों को अनेक विकास खंडों के अंतर्गत सम्मिलित कर लिया गया है। प्रत्येक विकास खंड में प्रशिक्षित तकनीकी विशेषज्ञों का एक दल होता है। इन विशेषज्ञों के द्वारा खेती, पशुपालन, कुटीर-उद्योग, ग्रामीण इंजीनियरी, जनस्वास्थ्य, सहकारिता, पंचायत और समाज-शिक्षा के विषय में ग्रामवासियों को जानकारी दी जाती है।

ग्रामीण निवासियों, विशेषकर किसानों को सूदखोर महाजनों के कुचक्र से छुटकारा दिलाने के लिए सहकारी समितियों का संगठन किया गया है। ऋणदाता समितियाँ कृषकों को कुछ साधारण शर्तों पर ऋण देती हैं। इस प्रकार लिए गए ऋण का उपयोग हल, बैल, ट्रैक्टर, खाद, बीज, उर्वरक आदि खरीदने में किया जा सकता है। किसानों को यह सुविधा भी दी गई है कि वे महाजन के ऋण चुकाने के लिए सहकारी समिति से रुपया ले सकते हैं। ऋण का ब्याज बहुत कम होता

है। नकद रुपए के अतिरिक्त सहकारी समितियाँ किसानों को उत्तम खेती में सहायक उपकरण और सामग्री भी उपलब्ध कराती हैं।

छोटे खेतों की समस्या का समाधान करने के लिए खेतों की चकबंदी की गई है। साथ ही, सहकारी-खेती-आंदोलन चलाया गया है। भूमि के असमान वितरण की विषमता को दूर करने के लिए राज्य सरकारों द्वारा भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित की गई है। जिन लोगों के पास सीमा से अधिक भूमि थी उनकी भूमि सरकार ने लेकर खेतिहर मजदूरों में बाँट दी है। विनोबा भावे द्वारा चलाए गए भूदान-आंदोलन से भी भूमिहीन किसानों या ग्रामीण मजदूरों को भूमि प्राप्त हुई है।

ग्रामों के विकास में पंचायत का भी विशेष महत्व है। तुम यह पढ़ चुके हो कि स्वतंत्रता मिलने के पश्चात पंचायतों का पुनर्गठन किया गया। पंचायती राज के अंतर्गत गाँवों के लिए तीन संस्थाओं का गठन किया गया है—गाँव पंचायत, क्षेत्र समिति तथा जिला परिषद्। इन्हीं तीनों संस्थाओं के लिए चुने गए प्रतिनिधियों पर ग्रामीण विकास का उत्तरदायित्व सौंप दिया गया। इनके द्वारा गाँवों की सामाजिक और आर्थिक उन्नति हुई है। वहाँ भी अब शिक्षा, स्वास्थ्य, पानी, रोशनी, यातायात, मनोरंजन की सुविधाएँ उपलब्ध हो चली हैं।

अभ्यास के प्रश्न

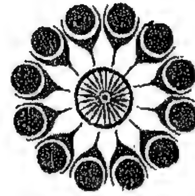
1) भारतीय गाँवों के परंपरागत जीवन की क्या विशेषताएँ हैं ?
2) गाँवों के पिछड़ेपन को किस प्रकार दूर किया जा सकता है ?
3) ग्राम पंचायतों ने ग्राम विकास में किस प्रकार का सहयोग दिया है ?

4) नीचे लिखे वाक्यों में तुम्हारी समझ में जो सही हों उन पर (√) का चिह्न लगाओ :

1) गांवों की उन्नति ही वास्तविक रूप से देश की उन्नति है।
2) खेती के विकास के लिए नए तरीके अपनाना आवश्यक है।
3) गांवों में छुआछूत अब बाकी नहीं है।
4) गांवों को सामुदायिक विकास योजना से लाभ हुआ है।

कुछ करने को

खेती के पुराने और नए तरीकों का एक चित्रमय तुलनात्मक चार्ट तैयार करो।



8 पंचवर्षीय योजनाएँ

जिस समय हमारा देश स्वतंत्र हुआ, हमारे सामने सबसे बड़ी समस्या यह थी कि लोगों के जीवन-स्तर को कसे ऊपर उठाया जाए और देश से निर्धनता, बेरोजगारी एवं निरक्षरता, कैसे दूर की जाए। सदियों की दासता के फलस्वरूप हम न तो शिक्षा के क्षेत्र में उन्नति कर सके थे और न ही कृषि व औद्योगिक विकास कर सके थे। हमारे यहाँ खनिज पदार्थों एवं शक्ति-साधनों (लोहा, कोयला, तेल) की कमी न थी। किन्तु इन साधनों का समुचित उपयोग नहीं हो पा रहा था। तकनीकी विशेषज्ञों का अभाव भी हमारी उन्नति में बाधक था।

ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक समझा गया कि देश के सीमित साधनों का अधिकाधिक उपयोग करने के लिए पहले लक्ष्य निर्धारित किया जाए। हमारे देश के योजना-आयोग ने सबसे पहले इसी पर विचार किया कि किन समस्याओं का समाधान करने को प्राथमिकता दी जाए। फिर यह विचार किया गया कि थोड़े से उपलब्ध साधनों के द्वारा हम किस प्रकार अधिक से अधिक विकास कर सकते हैं और कितने समय में हम पूर्व निर्धारित लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। काफी विचार-विमर्श के बाद प्रथम पंचवर्षीय योजना का प्रारूप तैयार हुआ। पहली

योजना की सफलता के पश्चात दूसरी, फिर तीसरी योजना चली, अब चौथी पंचवर्षीय योजना चल रही है। चीन और पाकिस्तान से युद्ध के कारण हमारे लक्ष्यों की पूर्ति में बाधा पड़ी है। इससे स्पष्ट है कि आर्थिक विकास के लिए शांतिपूर्ण व्यवस्था का होना कितना महत्त्वपूर्ण होता है।

पंचवर्षीय योजनाओं में देश के विकास के विभिन्न कार्यक्रम होते हैं। ये कार्यक्रम देश की बहुमुखी उन्नति के लिए होते हैं किन्तु प्रमुख रूप से इनका उद्देश्य देश का आर्थिक व सामाजिक विकास करना है। इन योजनाओं का यह भी उद्देश्य है कि समाज की समृद्धि का स्रोत कुछ गिने-चुने व्यक्तियों के हाथ में न होकर जन-साधारण के नियंत्रण में हो जाए। योजनाओं से होने वाला लाभ भी अधिक से अधिक व्यक्तियों को मिल सके, इसके लिए उत्पादन के मुख्य कल-कारखाने सरकार ने अपने ही हाथ में रखे हैं। साथ ही, इन योजनाओं के द्वारा निजी उद्योगों एवं कृषि-उत्पादन को भी प्रोत्साहन दिया जाता है। इस प्रकार की नीति को जिससे सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र दोनों ही में विकास कार्य को प्रोत्साहन मिले, मिली-जुली या मिश्रित अर्थनीति कहते हैं।

इस प्रकार हम नियोजन में तीन बातें पाते हैं—प्राथमिकता के आधार पर लक्ष्य निर्धारित करना, उपलब्ध साधनों का सर्वोत्तम ढंग से प्रयोग करना और योजना से अर्जित लाभ अथवा उत्पादित वस्तुओं का न्यायोचित वितरण करना। भारत के आर्थिक विकास के लिए नियोजन-पद्धति अपनाई गई है। पाँच वर्षों के लिए लक्ष्य निर्धारित करके ये योजनाएँ बनाई गई हैं और इन्हें पंचवर्षीय योजनाएँ कहते हैं। इन योजनाओं में अब तक का निर्धारित लक्ष्य यह है कि सन् 1972 तक प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय दुगुनी हो जाए।

इन योजनाओं के अंतर्गत हमारे देश में कृषि का उत्पादन बढ़ा है, अनेक प्रकार के उद्योग-धंधों का विकास हुआ है, नए-नए कारखानों का निर्माण किया गया है, नदियों पर बाँध बनाकर सिंचाई और बिजली के उत्पादन में वृद्धि की गई है, स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय तथा अस्पताल खोले गए हैं। हम अगले अध्यायों में विस्तार से पढ़ेंगे कि इन योजनाओं ने क्या कार्य किया है।

इन योजनाओं को सफल बनाने में जनता ने सरकार को पूरा सहयोग दिया।

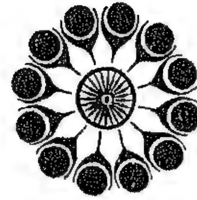
इन पर खर्च होने वाली धनराशि जनता द्वारा ही उपलब्ध होती है और इनका लाभ भी जनता को ही मिलता है। बचत के रूप में, ऋण के रूप में तथा अतिरिक्त करों के रूप में जनता ने सरकार के लिए अनुमान से अधिक धन जुटाया। हमें विदेशों से भी ऋण और सहायता के रूप में करोड़ों रुपए प्राप्त हुए हैं। लेकिन मुख्य भार तो हम भारतवासियों पर ही है। हमें इन योजनाओं को सफल बनाने के लिए त्याग करना पड़ता है तथा कष्ट उठाने पड़ते हैं। जनता के सहयोग से तथा सरकार की कार्य-कुशलता के बिना कोई योजना सफल नहीं हो सकती। हम सभी लोग बचत करके इन योजनाओं को सफल बनाने में सरकार की मदद कर सकते हैं। वास्तव में लाभ हमें ही होगा। देश के रहन-सहन का स्तर ऊँचा होगा। सुविधाएँ बढ़ेंगी और हमारा देश मजबूत हो सकेगा।

अभ्यास के प्रश्न

1) पंचवर्षीय योजना से तुम क्या समझते हो ?
2) भारत को पंचवर्षीय योजना की पद्धति क्यों अपनानी पड़ी ?
3) 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' से क्या तात्पर्य है ? उदाहरण देकर समझाओ।
4) पंचवर्षीय योजनाओं पर खर्च की जाने वाली धनराशि किस प्रकार जुटाई जाती है ? हमारा इसके प्रति क्या कर्तव्य है ?
5) पंचवर्षीय योजनाओं का लाभ मुख्यतः किसे मिलता है ?

कुछ करने को

1) एक समय-रेखा (टाइम चार्ट) बनाकर चारों पंचवर्षीय योजनाओं का कार्यकाल दिखलाओ।
2) अपने जिले के नियोजन कार्यालय में जाकर कुछ प्रकाशित पुस्तिकाओं की सूची बनाओ। उन्हें पढ़ो भी।



9 पंचवर्षीय योजनाएँ और कृषि-विकास

भारत मुख्यतः एक खेतिहर देश है। कृषि हमारे देश के लोगों का सबसे मुख्य धंधा या व्यवसाय है। लगभग 70% कार्यशील जनसंख्या इसमें लगी हुई है। हमारे गाँवों में प्रत्येक पाँच व्यक्तियों में से चार व्यक्ति कृषि-कार्य करते हैं। यह सब होते हुए भी हमारे देश में अन्न की कमी है। इस कमी को पूरा करने के लिए हमें दूसरे देशों से अनाज मँगाना पड़ता है। दूसरे देशों से अनाज मँगाने का अर्थ है अपने देश के धन का बाहर जाना। इसके अतिरिक्त यह बात हमारे आत्म-सम्मान को भी ठेस पहुँचाती है। इसलिए सभी पंचवर्षीय योजनाओं को बनाते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि कृषि के विकास पर अधिक धन खर्च किया जाए।

प्रथम पंचवर्षीय योजना। अप्रैल, 1951 से आरंभ होकर 31 मार्च, 1956 को पूरी हुई। इस योजना में कृषि, सामुदायिक विकास एवं सिंचाई के लिए 758 करोड़ रुपया खर्च करने की व्यवस्था की गई थी। दूसरी पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल, 1956 से चालू हो कर 31 मार्च, 1961 तक चली। इस योजना में भी कृषि और उससे संबंधित कार्यों के लिए और भी बड़ी रकम निश्चित की गई। यह रकम शुरू में 1054 करोड़ रुपए थी, जिसे आगे चल कर साधनों की कमी के कारण घटा कर 950 करोड़ कर दिया गया। तीसरी योजना, 1 अप्रैल, 1961 से 31

मार्च, 1966 तक चलनी थी। इसमें भी काफी बड़ी धनराशि कृषि के मद पर खर्च करने की व्यवस्था की गई किन्तु खेद है कि इस योजना का कार्य निर्धारित समय में पूरा न हो सका।

इन आँकड़ों से पता चलता है कि वास्तव में हमारी योजनाओं में कृषि-विकास को सबसे प्रमुख माना गया है। देश के विकास के लिए यह आवश्यक भी है। भूमि-सुधार के कार्यक्रम पर भी बल दिया गया। जमींदारी-उन्मूलन, काश्तकारी-सुधार, खेतों की चकबंदी व सहकारी खेती पर बल दिया गया।

अच्छी खेती के लिए अच्छे किस्म के बीजों का प्रयोग बहुत आवश्यक है। अच्छे बीजों से फसल का उत्पादन अधिक होता है। कृषि-विशेषज्ञों का अनुमान है कि अच्छे बीजों से उत्पादन 10 से 15 प्रतिशत तक बढ़ सकता है। इसलिए हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में अच्छे किस्म के बीज तैयार करने के फार्म खोलने का एक व्यापक कार्यक्रम आरंभ किया गया। प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में अधिकाधिक बीज-फार्मों का लक्ष्य सामने रखा गया। चौथी योजना में इसके लिए निर्धारित लक्ष्य 2740 एकड़ है।

लगातार फसलें पैदा करते रहने से भूमि की उत्पादन-शक्ति घट जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि उपज कम होने लगती है। भूमि की इस शक्ति को अच्छी खाद के उपयोग से पूरा किया जा सकता है तथा उत्पादन-शक्ति को बढ़ाया भी जा सकता है। गोबर की खाद अत्यंत उत्तम होती है परंतु खेद है कि हमारे देश में लगभग 40 प्रतिशत गोबर ईंधन के रूप में इस्तेमाल हो जाता है। अतः किसान को रासायनिक खादों का सहारा लेना पड़ता है। इसलिए देश में रासायनिक खाद के उत्पादन की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। केन्द्रीय सरकार ने 23 करोड़ रुपए की लागत से धनबाद के निकट सिंदरी नामक स्थान पर एक बड़ा कारखाना खोला। यह कारखाना एशिया में रासायनिक खाद का सबसे बड़ा और नवीनतम कारखाना है। इसके अतिरिक्त नंगल, राउरकेला, नवेली और ट्रांबे में भी रासायनिक खाद तैयार करने के कारखाने खोले गए हैं।

उत्तम खाद और उन्नत किस्म के बीजों से पूरा लाभ तभी उठाया जा सकता है जबकि खेतों की सिंचाई के लिए पानी का प्रबंध ठीक हो। कृषि-विकास में सबसे

अधिक सहायता सिंचाई के साधनों से मिलती है। हमारे देश में कुल बोई हुई भूमि के लगभग 18 प्रतिशत भाग में ही कुओं, नहरों, नलकूपों, रहट आदि से सिंचाई की जाती है। शेष 82 प्रतिशत की सिंचाई के लिए हमारा किसान आसमान की ओर ताकता रहता है।

अतः हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई के साधनों में वृद्धि की व्यवस्था की गई है। इस समय देश में लगभग 153 नदी-योजनाओं पर काम हो रहा है। नदियों पर बाँध बनाकर नहरें निकाली जाती हैं। इन नहरों के पानी से हजारों एकड़ भूमि में सिंचाई की जाती है। बाँध के पानी से बिजली पैदा की जाती है। क्या तुम्हें कुछ मुख्य नदी-योजनाओं के नाम याद हैं? उन्हें तुम नक्शे पर भी दिखा सकते हो। भाखड़ा-नंगल योजना, दामोदर घाटी योजना, तुंगभद्रा योजना, कोसी योजना, चंबल योजना प्रमुख घाटी-योजनाएँ हैं। नल-कूपों की सहायता से भी सिंचाई में वृद्धि हुई है। पंचवर्षीय योजनाओं ने लाखों नलकूपों का जाल बिछा दिया है। चौथी योजना में सिंचाई के कार्यक्रम के लिए 964 करोड़ रुपए की व्यवस्था की गई है। अनुमान है कि इस अवधि में सींचित क्षेत्रफल में 260 लाख एकड़ की वृद्धि होगी।

इन योजनाओं के फलस्वरूप हमारे देश में खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ा है। पहली पंचवर्षीय योजना में खाद्यान्न 508 लाख टन से बढ़कर 669 लाख टन से भी अधिक हो गया था। दूसरी योजना में उत्पादन में संतोषजनक वृद्धि नहीं हुई। किन्तु तीसरी योजना के अंत में खाद्यान्न के उत्पादन की मात्रा 723 लाख टन हो गई। वैसे इस योजना के अंत तक हमारा लक्ष्य एक हजार लाख टन खाद्यान्न-उत्पादन करने का था। इस प्रकार हम अपने लक्ष्य से 277 लाख टन पीछे रह गए। हमें आशा है कि चौथी योजना के अंतर्गत हम इस कमी को पूरा कर लेंगे। हमारा विश्वास है कि योजनाओं के फलस्वरूप अगले 10 वर्षों के भीतर भारत खाद्यान्न के विषय में न सिर्फ आत्मनिर्भर हो जाएगा बल्कि उसका निर्यात भी करने लगेगा।

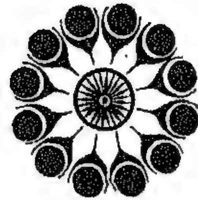
अभ्यास के प्रश्न

1) विदेशों से खाद्यान्न मँगाने से क्या हानि है?

2) पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत खाद्यान्न के उत्पादन की स्थिति में क्या सुधार हुआ ?
3) उत्तम खेती के लिए उत्तम बीज और अच्छी खाद का क्या महत्त्व है ?
4) पंचवर्षीय योजनाओं में अच्छी खाद उपलब्ध करने के लिए क्या उपाय किए गए हैं ?
5) नदी-योजनाओं से क्या लाभ हैं ?
6) निम्नलिखित क्यों प्रसिद्ध हैं—
(क) सिन्दरी (ख) ट्रांबे (ग) भाखड़ा-नंगल

कुछ करने को

1) भारत के मानचित्र में नदी-घाटी-योजनाओं के प्रमुख प्रभावकारी क्षेत्र दिखलाओ।
2) किसी नदी-योजना का एक मिट्टी का मॉडल बनाओ। इसमें अन्य साथियों और अध्यापकों से सहायता ले सकते हो।



10 पंचवर्षीय योजनाएँ और औद्योगिक विकास

पिछले अध्याय में तुमने पढ़ा है कि पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि-विकास पर बहुत अधिक धनराशि व्यय की गई है। हमारे देश की परिस्थितियों में यह आवश्यक भी था। देश में खाद्यान्न की कमी थी। अतः उस पर तुरंत ध्यान दिया गया। किन्तु आज की दुनिया में औद्योगिक विकास के बिना कोई राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन-स्तर ऊँचा करने के लिए खाद्यान्न के अतिरिक्त कपड़ा, मकान, बिजली, मशीनों आदि की व्यवस्था होनी चाहिए। उत्तम खेती के लिए ट्रैक्टर जैसे नए प्रकार के कृषि-यंत्रों की आवश्यकता है। सिंचाई के लिए नलकूपों और नलकूपों के चलाने के लिए मोटर-यंत्र की जरूरत पड़ती है। जन-स्वास्थ्य के लिए औषधियाँ तथा यातायात एवं संचार के साधनों की व्यवस्था करना भी लोक-कल्याणकारी राज्य का प्रमुख लक्ष्य होता है। जिस देश में इन जीवनोपयोगी वस्तुओं का अभाव हो, उसकी गिनती पिछड़े देशों में होती है और देशवासियों का जीवन-स्तर ऊँचा नहीं हो पाता।

यही कारण है कि योजना आयोग ने इस बात पर बल दिया कि देश के वर्तमान उद्योगों को बढ़ाया जाए। पुराने कारखानों के विकास के साथ ही साथ नए

कारखाने खोले जाएँ। यह भी जरूरी समझा गया कि बड़े-बड़े सरकारी उद्योगों के निर्माण को तथा लोगों के निजी उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित किया जाए। योजना आयोग ने बड़ी-बड़ी मशीनें बनाने के उद्योगों को प्राथमिकता दी। उसके साथ-साथ उन्होंने छोटे उद्योग एवं कुटीर उद्योग-धंधों को भी प्रोत्साहित किया।

प्रथम योजना के अंतर्गत छोटे-बड़े उद्योगों एवं खनिज विकास के लिए 188 करोड़ रुपए की व्यवस्था की गई। इस योजनाकाल में औद्योगिक विकास के क्षेत्र में संतोषजनक प्रगति हुई। सिंदरी में खाद बनाने का कारखाना और चित्तरंजन में रेल के इंजन बनाने का कारखाना खोला गया। लोहा और इस्पात के उत्पादन का काम शुरू किया गया। मध्यप्रदेश में अखबारी कागज के उत्पादन के लिए नेपा मिल्स की स्थापना की गई। निजी क्षेत्र में पेट्रोल साफ करने वाले, रेयन का सूत तथा नकली रुई का निर्माण करने वाले, सीमेंट, साइकिल, काँच की चादरें आदि बनाने वाले नए कारखानों के स्थापित किए जाने का कार्य तेजी से चला।

परिणाम यह हुआ कि हमें अनेक क्षेत्रों में यथेष्ट सफलता मिली। कपड़ा-उत्पादन का लक्ष्य तो हमने दो वर्ष में ही पूरा कर लिया। सीमेंट, चीनी और रासायनिक उद्योगों में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई। बहुत सी वस्तुएँ जो पहले विदेशों से आती थीं अब अपने ही देश में तैयार होने लगीं। अनेक नए उद्योगों जैसे पोत-निर्माण, वायुयान- निर्माण, टेलीफोन-निर्माण, पेनिसिलिन, डी०डी०टी० के उत्पादन की व्यवस्था की गई। तमिलनाडु (मद्रास) के पेरांबूर स्थान पर रेल के डिब्बे बनाने का कारखाना स्थापित किया गया। पिंपरी में औषधियाँ तैयार करने तथा विशाखापटनम में जहाज बनाने के कारखाने खोले गए।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास के लिए बहुत बड़ी धनराशि निर्धारित की गई। इस योजना में औद्योगिक विकास पर इतना अधिक बल दिया गया कि यह पंचवर्षीय योजना औद्योगिक योजना के नाम से विख्यात हो गई। इस योजना में छोटे-बड़े उद्योगों तथा खनिज-विकास के लिए 890 करोड़ रुपए की व्यवस्था की गई। मशीन और इंजीनियरी के उद्योगों में भी बहुत उन्नति हुई। सीमेंट, कोयला, एल्यूमिनियम आदि के उत्पादन में वृद्धि हुई। अनेक उद्योगों में काम आने वाले कलपुर्जों व मशीनों का निर्माण देश में होने लगा। सरकार ने इस्पात,

मशीनों के यंत्र, बिजली के भारी सामान, भारी मशीनों, उर्वरक, रासायनिक पदार्थ, औषधियों आदि का निर्माण करने वाले तथा तेल साफ करने वाले कारखाने स्थापित किए। भिलाई, दुर्गापुर तथा राउरकेला इस्पात के कारखाने विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत दैनिक उपयोग की वस्तुओं से लेकर बड़ी-बड़ी मशीनों तक का उत्पादन तेजी से होने लगा।

तीसरी योजना का लक्ष्य इस्पात, ईंधन और बिजली-उत्पादन आदि के बुनियादी उद्योगों का विस्तार करना था। आयोग ने हिसाब लगाया कि दस वर्षों के भीतर उद्योगों के लिए सभी सामान देश में ही बनने चाहिए। इसी योजना काल में राँची के पास भारी मशीनें बनाने का कारखाना लगाया गया। बिजली के भारी सामान तैयार करने वाले तीन कारखाने तथा रसायन और औषधियाँ तैयार करने वाले अनेक कारखाने खोले गए। बड़े उद्योगों के अतिरिक्त ग्रामोद्योग और लघु उद्योगों को भी प्रोत्साहन दिया गया।

चौथी वार्षिक योजना में कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गईं। पाकिस्तान के साथ युद्ध, लगातार दो वर्षों तक सूखा पड़ने, कीमतों में वृद्धि होने और साधनों की कमी इत्यादि कारणों से चौथी योजना को अन्तिम रूप देने में विलम्ब हुआ। इसलिए हमें वार्षिक योजनाओं का सहारा लेना पड़ा। इस काल में चौथी योजना के अन्तर्गत तीन वार्षिक योजनाएँ बनाई गईं। इन वार्षिक योजनाओं को आर्थिक साधनों की कमी के कारण सीमित रखना पड़ा। चौथी योजना का उद्देश्य देश के विकास को गति देना था। कृषि उत्पादन और विदेशी सहायता की अनिश्चितता से बचना भी इस योजना का उद्देश्य था।

हालाँकि चौथी योजना में काफी बड़ी राशि रखी गई थी लेकिन जो प्रगति हुई है वह उतनी संतोषजनक नहीं है। देश के सामने आज खाद्य की बहुत बड़ी समस्या है। इधर पेट्रोल की समस्या ने भी कई कठिनाइयाँ उत्पन्न की हैं।

अप्रैल 1974 से पाँचवीं पंचवर्षीय योजना लागू हो गई है। इस योजना का उद्देश्य निर्धनता को मिटाना और समाज की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। यह योजना रोजगार के भी अधिक अवसर प्रदान करेगी।

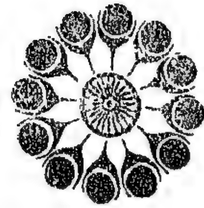
भारत ने औद्योगिक क्षेत्र में काफी प्रगति की है। कई नये उद्योग शुरू किये हैं। देश की औद्योगिक प्रगति की एक बहुत ही महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि सार्वजनिक क्षेत्र का काफी गति से विस्तार किया गया है। भारत का नाम आज विश्व के दस सब से अधिकऔद्योगिक रूप से विकसित देशों में लिया जाता है। इस प्रगति के होते हुए भी हम आज भी अमेरिका, रूस, जापान और ग्रेट ब्रिटेन से औद्योगिक क्षेत्र में काफी पीछे हैं। निर्धनता दूर करने के लिए और जनता का जीवन स्तर ऊँचा उठाने के लिए हमें औद्योगीकरण की गति को बढ़ाना होगा। देश में एक अनुकूल औद्योगिक वातावरण तैयार करना होगा। इस दिशा में सरकार ने कई कदम उठाये हैं।

अभ्यास के प्रश्न

1) दूसरी पंचवर्षीय योजना को 'औद्योगिक विकास योजना' क्यों कहा जाता है ?
2) सार्वजनिक (सरकारी) क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र में स्थापित किए जाने वाले दो-दो कारखानों के नाम लिखो।
3) निम्नलिखित के उत्तर दो—
   (क) भारत में इंजन बनाने का कारखाना कहाँ है ?
   (ख) रेल के डिब्बे कहाँ बनाए जाते हैं ?
   (ग) पोत-निर्माण का कारखाना कहाँ है ?
   (घ) पिंपरी किसके उत्पादन के लिए प्रसिद्ध है ?
4) क्या यह सच है कि—
   (क) औद्योगिक दृष्टि से भारत जापान से अभी पिछड़ा हुआ है।
   (ख) निजी क्षेत्र में पेट्रोल साफ करने वाले कारखानों की स्थापना हुई है।
   (ग) अब हमें पंचवर्षीय योजना के लिए विदेशों से सहायता मिलनी बंद हो गई है।
   (घ) चौथी योजना समय पर प्रारंभ न हो सकी।

कुछ करने को

1) भारत के मानचित्र में प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों को दिखलाओ।
2) पता लगाकर यह लिखो कि भिलाई, राउरकेला तथा दुर्गापुर के कारखानों के लिए किन देशों ने सहायता दी है।





11 भारत की सुरक्षा

विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा करना प्रत्येक राज्य का अनिवार्य कर्तव्य है। इस कारण राज्य में सेना का संगठन किया जाता है। हमारे देश में भी सरकार सीमा-सुरक्षा के लिए सैन्य-व्यवस्था रखती है। हमारा देश संसार के अन्य देशों से मित्रतापूर्ण संबंध बनाए रखने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। न तो हम किसी भी राज्य के घरेलू मामले में हस्तक्षेप करते हैं और न किसी देश के भू-भाग को अपने अधिकार में लेना चाहते हैं। फिर भी यदि हमारे देश पर कोई अन्य देश आक्रमण करता है तो हमारी सेनाएँ उसका सामना करने के लिए हर समय तैयार रहती हैं।

प्राचीन और मध्यकाल में भारत की सुरक्षा का प्रश्न इतना गंभीर नहीं था। उत्तर में हिमालय पर्वत और दक्षिण में हिन्द महासागर देश की रक्षा के सजग प्रहरी रहे हैं। पहले जमाने में भारत पर जितने आक्रमण हुए उनमें अधिकांश उत्तर पश्चिम की ओर से हुए। इस दिशा में भी कुछ पहाड़ियाँ प्रहरी का काम करती रहीं परंतु इन पहाड़ियों के बीच के दर्रे शत्रु को बराबर मार्ग देते रहे हैं।

स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद इस परिस्थिति में दो मूल परिवर्तन हुए। एक तो

चीन में क्रांति के फलस्वरूप एक संगठित और शक्तिशाली सरकार का कायम होना। दूसरा भारत का विभाजन। इस समय भारत की उत्तरी सीमाएँ पाकिस्तान, चीन और नेपाल को छूती हैं। चीन और भारत की सीमाओं का तीन क्षेत्रों में स्पर्श होता है—असम के निकट, लद्दाख के निकट तथा उत्तर प्रदेश एवं पंजाब के उत्तर में तिब्बती सीमा पर। हमारे उत्तर-पश्चिम में पश्चिमी पाकिस्तान और उत्तर-पूर्व में पूर्वी पाकिस्तान स्थित है। भारत के असम प्रदेश की पूर्वी सीमाएँ बर्मा से लगी हुई हैं तथा दोनों के बीच अराकान की पहाड़ियाँ प्राकृतिक सीमा बनाती हैं। दक्षिण में भारत के दोनों ओर लगभग सात हजार किलोमीटर लंबा समुद्रतट है। सुदूर दक्षिण में लंका देश है जिसको समुद्र अलग करता है।

भारत और पाकिस्तान के बीच कोई प्राकृतिक विभाजन नहीं है। चीन और पाकिस्तान दोनों ही हमारे देश के कुछ भाग पर अपना दावा करते हैं। पहले पाकिस्तान ने कश्मीर पर 1947 में अतिक्रमण किया। 1962 में चीन ने उत्तरी सीमा का उल्लंघन करके भारत का कुछ भू-भाग अपने अधिकार में कर लिया। उस समय हम अपने पड़ोसियों से इस प्रकार के सहसा अतिक्रमण के लिए तैयार नहीं थे। इस अतिक्रमण से ही हमें अपनी सैनिक शक्ति को और भी मजबूत करने की आवश्यकता का पता चला। अतः हमने अपनी सुरक्षा को अधिक दृढ़ किया, देश में सैन्य सामग्री तैयार करने के लिए अनेक नए कारखाने स्थापित किए, सीमाओं को मिलाने वाली सड़कों का निर्माण कराया, कई पर्वतीय सैनिक-दल तैयार किए जिन्हें पर्वतीय क्षेत्रों में लड़ने का प्रशिक्षण दिया गया। अन्य देशों विशेषकर अमरीका, ब्रिटेन और रूस से सैन्य सामग्री खरीदने की व्यवस्था की गई है। साथ ही, यह भी प्रयत्न किया गया है कि अपने देश में ही अस्त्र-शस्त्र एवं सैन्य सामग्री तैयार करने के कारखाने खोले जाएँ।

1965 में पाकिस्तान ने हमारे देश पर फिर आक्रमण कर दिया। लेकिन हमारी सेनाओं ने उसकी दाल न गलने दी। इस संघर्ष में वायुसेना ने विशेष पराक्रम दिखलाया। इस विजय से अपने देश की सैन्य शक्ति की धाक बैठ गई। किन्तु फिर भी हमें देश की सुरक्षा के लिए अपनी सेनाओं को आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्र से लैस करना होगा और सेना के तीनों अंगों—जल सेना, थल सेना, वायु सेना—की

आधुनिक तरीकों से प्रशिक्षित करना होगा। इतना ही नहीं, हमें सैनिक-सामान तैयार करने के क्षेत्र में भी आत्मनिर्भर बनना होगा।

इस दिशा में हमने कुछ प्रगति भी की है। 'विजयंत' जैसे मजबूत टैंक तथा मिग 21 जैसे वायुयानों का निर्माण होने लगा है। मिग विमान बनाने के तीन कारखाने नासिक, कोरापुट तथा हैदराबाद में खोले गए हैं। अन्य प्रकार के वायुयान बनाने के कारखाने बंगलौर और कानपुर में खोले गए। इनमें एक विशेष प्रकार का जेट विमान भी तैयार किया गया है जिसका नाम 'भारत' रखा गया है।

विशाखापटनम में पोत-निर्माण का बड़ा कारखाना है। प्रत्येक वर्ष शक्तिमान फौजी ट्रक हजारों की संख्या में बनकर तैयार हो जाते हैं। आधुनिक ढंग की बंदूकें तथा शस्त्रों के लिए भी बड़े-बड़े कारखाने स्थापित होते जा रहे हैं जैसे किरकी (पूना) और मुरादनगर (मेरठ) में।

किसी देश की सुरक्षा के लिए सैनिक तैयारी तो आवश्यक है ही साथ ही यह भी आवश्यक है कि देश इतना साधन संपन्न हो कि वह सुरक्षा संबंधी व्यय का भार उठा सके। यदि देश में उद्योग-धंधों का विकास हुआ है तो युद्ध सामग्री तैयार करने के साधन सरलता से जुटाए जा सकते हैं। यह भी जरूरी है कि देश में वैज्ञानिक एवं तकनीकी उन्नति हो तथा नए आविष्कारों के लिए प्रचुर धन एवं योग्य व्यक्ति उपलब्ध हों।

अपने देश में आणविक शस्त्रास्त्रों के उत्पादन के विषय में मतभेद है लेकिन हम अपना सीमाओं की रक्षा के लिए काफी बड़ी धनराशि खर्च करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि हम सब लोगों को इसके लिए त्याग करना पड़ता है, किन्तु देश की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए हमें ऐसा करना ही चाहिए। जिस आजादी को प्राप्त करने में हमारे देशवासियों ने अनेक बलिदान किए हैं, उसकी सुरक्षा के लिए भी हमें हर संभव उपाय करना चाहिए।

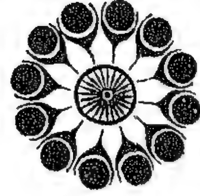
अभ्यास के प्रश्न

1) प्राचीन और मध्य युग में हमारे देश पर आक्रमण किस दिशा से हुए ?

2) वर्तमान काल में भारत की सुरक्षा-समस्या पहले की अपेक्षा क्यों अधिक गंभीर हो गई है ?
3) भारत-चीन संघर्ष के बाद हमने अपने देश की सुरक्षा को किस प्रकार अधिक दृढ़ किया ?
4) किसी देश की सुरक्षा के लिए किन साधनों का होना आवश्यक है ?
5) निम्नलिखित क्या हैं—विजयंत, शक्तिमान, मिग-21, मारुत ?
6) ये क्यों प्रसिद्ध हैं—बंगलौर, विशाखापटनम, नासिक, मुरादनगर ?

कुछ करने को

1) भारत के मानचित्र पर भारतीय सीमा पर स्थित देशों के नाम दिखाओ ।
2) पाकिस्तान और चीन भारत के कौन से भागों पर अपना अधिकार बताते हैं, नक्शे में बनाओ ।



12 हमारी सेना

हमारे देश के सैनिक संगठन में राष्ट्रपति का स्थान सर्वोच्च होता है। संविधान द्वारा राष्ट्रपति को प्रधान सेनापति माना गया है। परंतु राष्ट्रपति के प्रधान सेनापति के रूप में जो अधिकार और कार्य होते हैं उनका प्रयोग रक्षा मंत्री करता है। रक्षा मंत्री सेना के तीनों अंगों के कार्यों का समन्वय करता है। वह देश की सुरक्षा नीति संबंधी व्यय के लिए संसद की स्वीकृति माँगता है। इस प्रकार रक्षा मंत्री के माध्यम से सेना पर संसद का नियंत्रण रहता है। हमारी सेना भी हमारे गणतंत्र और उसकी व्यवस्था का एक भाग है। वह उसकी रक्षा का एक साधन है।

सेना के तीन अंग होते हैं। स्थल-सेना, वायु-सेना, नौ-सेना। प्रत्येक अंग का एक प्रमुख होता है।

स्थल-सेना

स्थल-सेना का मुख्य कार्यालय नई दिल्ली में है। इसका प्रधान स्थल-सेनाध्यक्ष होता है। इस कार्यालय के अनेक भाग हैं जैसे सैनिक कारंवाई, जासूसी, प्रशिक्षण, अस्त्र-शस्त्र, इंजीनियरिंग आदि।

इस सेना का संगठन चार क्षेत्रों में बाँट दिया गया है—पूर्वी, पश्चिम, उत्तरी व दक्षिणी। प्रत्येक क्षेत्र का मुख्य अधिकारी अलग-अलग होता है। वह लेफ्टिनेन्ट जनरल कहलाता है।

प्रत्येक क्षेत्र पुनः कई भागों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक भाग एक मेजर जनरल के अधीन होता है। हर भाग के भी उपविभाग होते हैं जिन्हें सब-एरिया कहते हैं। प्रत्येक सब-एरिया एक ब्रिगेडियर के अधीन होता है। ब्रिगेडियर के नीचे कर्नल, लेफ्टिनेन्ट कर्नल, मेजर, कैप्टेन, लेफ्टिनेन्ट तथा सेकिन्ड लेफ्टिनेन्ट होते हैं। ये ही पद कमीशन वाले पद कहे जाते हैं।

नौ-सेना

नौ-सेना का मुख्य कार्यालय भी नई दिल्ली में है। इसका प्रधान नौ-सेनाध्यक्ष होता है। नौ-सेना संगठन के तीन क्षेत्रीय विभाग किए गए हैं। पूर्वी नौ-सेना कमान, पश्चिमी नौ-सेना कमान और दक्षिणी नौ-सेना कमान। इनके अतिरिक्त पश्चिमी बेड़े के लिए एक गतिमान कमान है।

भारतीय नौ-सेना बड़ी नहीं है, उसका धीरे-धीरे विस्तार हो रहा है। विशाखापटनम में हिन्दुस्तान शिपयार्ड द्वारा जलपोतों का निर्माण होने लगा है। कलकत्ते में सुरक्षात्मक जहाज बनाने वाली फैक्ट्री स्थापित की गई है जिसने 'अजय', 'अभय' तथा 'अक्षय' नाम के जहाजों का निर्माण करके नौ-सेना के जहाजी बेड़े में महत्त्वपूर्ण वृद्धि की है।

वायु-सेना

वायु-सेना का मुख्य कार्यालय भी नई दिल्ली में है। इसका प्रधान वायु-सेनाध्यक्ष होता है। वायु-सेना का संगठन पाँच भागों में विभाजित है। पूर्वी, पश्चिमी और मध्यवर्ती कमान, प्रशिक्षण-विभाग तथा सामान्य देखभाल वाला विभाग।

वायु-सेना में अनेक प्रकार के जहाज होते हैं जैसे लड़ाकू, बम डालने वाले तथा यातायात संबंधी। तुम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हो कि भारत में मिग विमान बनने लगे हैं। ये लड़ाकू वायुयान की ही एक किस्म हैं।

प्रशिक्षण

भारत की भौगोलिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए हमारी सेनाओं को विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण दिए जाते हैं और इसके लिए अनेक संस्थाएँ हैं। स्थल-सेना, नौ-सेना तथा वायु-सेना के उच्च अधिकारियों के अध्ययन-हेतु 1960 में नई दिल्ली में एक नेशनल डिफेन्स कालेज खोला गया। इसमें वे युद्ध से संबंधित सैनिक, वैज्ञानिक, औद्योगिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों का गहन अध्ययन करते हैं। इस प्रकार रण नीति निर्धारित करने के पूर्व उन्हें उच्चस्तरीय विचार-विमर्श करने का अवसर मिलता है।

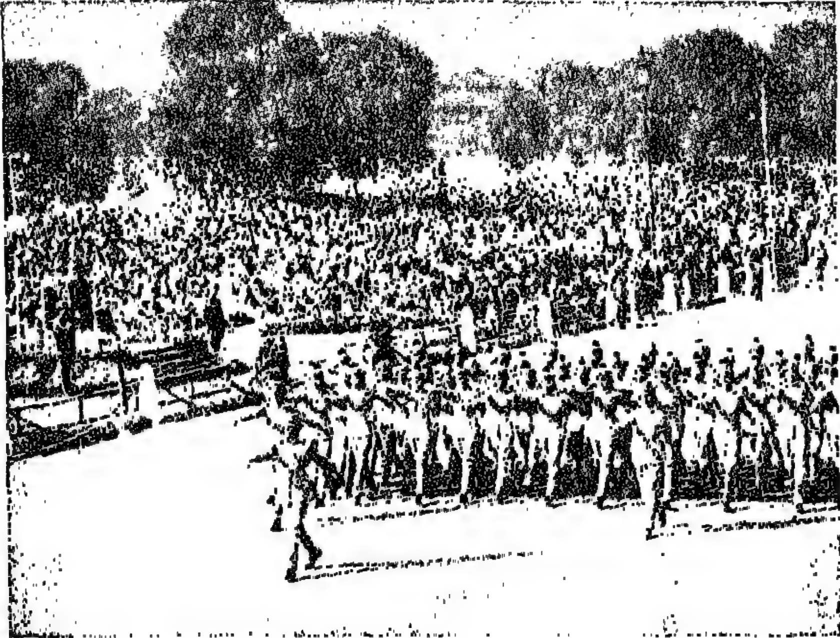
सैनिक शिक्षा देने की सबसे मुख्य संस्था खड़गवासला में है। इसे नेशनल डिफेन्स एकेडेमी कहते हैं। इसमें प्रवेश पाने के लिए वर्ष में दो बार परीक्षा ली जाती है। 15 और 17½ वर्ष की आयु के बीच हाई स्कूल पास अविवाहित नवयुवक इन परीक्षाओं में बैठ सकते हैं। सफल युवकों को सैनिक पदों के लिए तैयार किया जाता है। प्रथम तीन वर्ष तक सामान्य शिक्षा दी जाती है। तत्पश्चात उन्हें तीनों प्रकार के सेना प्रशिक्षण केन्द्रों में से किसी एक प्रकार के प्रशिक्षण के लिए चुनाव करना पड़ता है। वहाँ एक वर्ष तक प्रशिक्षण दिया जाता है।

जो स्थल-सेना में जाना पसंद करते हैं उन्हें देहरादून स्थित राष्ट्रीय इंडियन मिलिट्री कालेज भेजा जाता है। नौ-सैनिक प्रशिक्षण के मुख्य केन्द्र कोचीन, बंबई और विशाखापटनम में स्थित हैं। वायु-सेना की प्रारंभिक शिक्षा जोधपुर के एयर फोर्स फ्लाइंग कालेज में दी जाती है। अधिकारियों को उच्चतम प्रशिक्षण देने के लिए हैदराबाद तथा कोयंबतूर में भी संस्थाएँ हैं।

1958 में एक अनुसंधान एवं विकास संगठन स्थापित किया गया था। इसके अंतर्गत इस समय 30 से अधिक संस्थान सैनिक आवश्यकताओं के बारे में अध्ययन और अनुसंधान करने में लगे हैं।

अन्य सैन्य प्रशिक्षण

सेना के अतिरिक्त दो अन्य सैन्य संगठन हैं। एक प्रादेशिक सेना (टैरिटोरियल आर्मी) है, जिसमें कोई भी व्यक्ति अपने खाली समय में सैनिक शिक्षा पाने के लिए



भर्ती हो सकता है। 18 और 35 वर्ष के बीच की आयु वाले स्वस्थ नवयुवक इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रशिक्षण पा सकते हैं। इसी प्रकार दूसरा संगठन देश के विद्यार्थियों में अनुशासन व सैन्य प्रवृत्ति जागृत करने के लिए है। उसे नेशनल कैडेट कोर कहते हैं। स्वस्थ छात्र और छात्राएँ दोनों ही इसमें भाग ले सकते हैं। इन दोनों संगठनों को देश की रक्षा की दूसरी पंक्ति कहा जा सकता है। संकट के समय इनसे देश को प्रशिक्षित सैनिक उपलब्ध हो सकते हैं।

सैन्य सहायता

देश की रक्षा करने के अतिरिक्त सेना को देश-सेवा के अनेक कार्यों पर लगाया

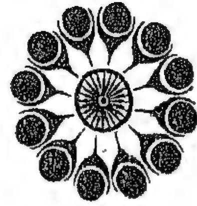
जा सकता है, जैसे भूकंप, अकाल अथवा बाढ़ पीड़ित लोगों को सहायता पहुँचाना, आदि। हमारी सेना को समय-समय पर विदेशों में शांति स्थापना करने में संयुक्त राष्ट्र संघ की सहायता करने के लिए भेजा जाता रहा है। उदाहरण के लिए हिन्द चीन, गाजा पट्टी, लेबनान, कांगो, यमन आदि स्थानों में भारतीय सेना ने संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रशंसनीय सेवाएँ की हैं।

अभ्यास के प्रश्न

1) भारतीय सेना के प्रमुख अंग कौन से हैं ? उनके मुख्य कार्यालय कहाँ है ?
2) अपने देश में सैन्य प्रशिक्षण की क्या व्यवस्था है ?
3) संक्षेप में उत्तर लिखो—
   (क) भारत का प्रधान सेनापति कौन है ?
   (ख) संसद भारतीय सेना पर किस प्रकार नियंत्रण रखती है ?
   (ग) खड़गवासला कहाँ है ?
   (घ) खड़गवासला में कितने वर्ष का प्रशिक्षण दिया जाता है ?
   (ङ) राष्ट्रीय इंडियन मिलिट्री एकेडेमी कहाँ स्थित है ?
4) पूरा नाम लिखो—
   (क) एन० डी० ए०
   (ख) एन० सी० सी०
   (ग) आई० ए० एफ०

कुछ करने को

1) भारतीय सेना के तीनों अंगों के अध्यक्षों के नाम लिखो।
2) किसी सैनिक अधिकारी के परिवार से संपर्क स्थापित करके विभिन्न सैनिक अधिकारियों की उपाधियाँ और स्तर की जानकारी हासिल करो।
3) सैन्य भर्ती के कार्यालय से स्थल, नौ तथा वायुसेना में भर्ती होने के नियमादि की सूचनाएँ एकत्र करो।



13 युद्ध और नागरिक-कर्तव्य

सेना युद्ध का मुख्य साधन है, परंतु आज के युद्ध में राष्ट्रों की केवल सेनाएँ ही नहीं वरन् समूचे राष्ट्र भाग लेते है। सेना के लिए यह आवश्यक है कि उसे अस्त्र-शस्त्र तथा युद्ध-सामग्री मिलती रहे और यह कार्य राष्ट्र के सहयोग के बिना नहीं हो सकता। युद्ध-काल में अधिकांश मिल, कारखाने और फैक्ट्रियाँ युद्ध-सामग्री बनाने में लग जाती हैं। वैज्ञानिक और तकनीकी अनुसंधान-कार्य में लगे हुए व्यक्ति भी युद्धोपयोगी नए-नए अस्त्र-शस्त्र, बम, गोला-बारूद, हल्के किन्तु पौष्टिक भोजन विभिन्न मौसमों में उपयोगी हल्के कपड़े आदि का आविष्कार करने में लग जाते हैं। इस प्रकार युद्ध में नागरिकों का भी योग होता है।

नागरिक सुरक्षा

आजकल युद्ध का खतरा केवल युद्ध क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहता। हवाई हमलों और गोलाबारी से नगर के नगर तहस-नहस हो जाते हैं। अतः यह आवश्यक है कि युद्ध में न केवल सेना ही जिम्मेवारी सँभाले वरन नागरिकों को भी सुरक्षा संबंधी प्रशिक्षण दिया जाए।

सुरक्षा-व्यवस्था को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक सैनिक सुरक्षा अर्थात सेना द्वारा देश की रक्षा और दूसरी नागरिक सुरक्षा अर्थात नागरिकों द्वारा सुरक्षा की व्यवस्था। नागरिक सुरक्षा में जान और माल की रक्षा करने, शांति बनाए रखने, उत्पादन-कार्य बनाए रखने एवं संकट-काल में मनोबल को ऊँचा रखने के प्रयास भी सम्मिलित हैं।

सेना का मनोबल बढ़ाना

यदि नागरिक सुरक्षा का भार सेना पर न डाला जाए तो सेना का काम हल्का होगा और उसे नैतिक बल मिलेगा। युद्ध में सेना का नैतिक बल बनाए रखना बहुत जरूरी है। इसका उत्तरदायित्व सरकार और नागरिक दोनों पर है। सैनिकों का मनोबल बनाए रखने में नागरिक बड़ा योग दे सकते हैं। पिछले युद्धों में रेलवे स्टेशनों पर युद्ध भूमि को जाते हुए जवानों का अभिनंदन करने के लिए नागरिकों की भीड़ की भीड़ जमा रहती थी, देश भर में स्त्रियों ने सुरक्षा कोष में जेवर और जवानों के लिए स्वेटर, मोजे, दस्ताने आदि बुन-बुन कर भेजे, घायलों के लिए लोगों ने कपड़े, धोतियाँ, चादरें आदि एकत्र कर सैनिक अस्पतालों में भर दिए, गीतकारों ने उनका साहस बढ़ाने वाले गीत लिखे और फिल्मकार उनका मन बहलाने सैनिक शिविरों में गए। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक जवान और अफसर यह अनुभव करता था कि देश का हर नागरिक उसके लिए, तन, मन और धन न्योछावर करने को तत्पर है। नागरिकों के इस अगाध प्रेम, श्रद्धा और विश्वास के बल पर ही तो जवान हँसते-हँसते शत्रु की गोलियाँ सीने पर झेल जाते हैं।

सेना का नैतिक बल बनाए रखने का एक अन्य पहलू यह भी है कि सैनिक-भर्ती का कार्य शिथिल न पड़ने पाए तथा नए अफसरों और जवानों का प्रशिक्षण पूरी गति से जारी रहे। प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वह सेना में भर्ती होने के लिए अपने को तैयार रखे। कुछ देशों में अनिवार्य सैनिक सेवा का नियम है। जहाँ ऐसा नियम नहीं है वहाँ भी प्रत्येक नागरिक को चाहिए कि वह अपने को

संभावित सैनिक के रूप में देखे। इस से अपनी सेना को मनोबल मिलता है और शत्रु का मनोबल कमजोर पड़ता है।

अधिक उत्पादन या बचत

यदि देश की उत्पादन-व्यवस्था ठप हो जाए तो सैनिक कार्रवाई अधिक दिन नहीं चल सकती। अतः युद्धकाल में नागरिकों का परम कर्तव्य है कि वे अधिक उत्साह से तथा अतिरिक्त समय देकर उत्पादन-कार्य में सहयोग करें। प्रत्येक नागरिक यह निश्चय करे कि मैं राष्ट्रीय सुरक्षा में अधिक से अधिक योगदान करूँगा और अपने उपभोग के लिए कम से कम खर्च करूँगा। प्रत्येक नागरिक को बचत करने की कोशिश करनी चाहिए। हमें जहाँ एक ओर आवश्यक सामग्री का उत्पादन करना है वहाँ दूसरी ओर युद्ध में उपयोगी वस्तुओं का कम से कम प्रयोग करके राष्ट्र की सहायता भी करना है। हम जो कुछ भी बचत कर सकें वह युद्ध प्रयास में हमारा योगदान होगा। बिजली, पानी, यातायात के साधन, दवाइयाँ, कपड़े, अन्न, खाद्य पदार्थ—सभी के प्रयोग में जितनी बचत कर सकें वह लाभदायक होगी।

सार्वजनिक संपत्ति की रक्षा

युद्ध-काल में नागरिक सक्रिय सहायता कर सकते हैं। पिछले युद्धों में अनेक नगरों में विद्यार्थियों और नागरिक-संगठनों ने सार्वजनिक संस्थानों जैसे बिजली-घर, पानी की टंकी आदि की निगरानी करने का कार्य किया था। शत्रु के गुप्तचर इन संस्थानों का ध्वंस करने का प्रयत्न करते हैं। गुप्तचरों का पता लगाने और उनको पकड़वाने का कार्य करने में नागरिक पुलिस की बहुत सहायता कर सकते हैं। नागरिकों और विद्यार्थियों के संगठन जनता को शत्रुओं द्वारा फैलाई गई तरह-तरह की अफवाहों से सावधान करते हैं। बहुधा शत्रु पक्ष रेडियो और अन्य साधनों से इस प्रकार की अफवाह फैलाते हैं जिससे जनसाधारण का मनोबल क्षीण हो जाए। नागरिकों का कर्तव्य है कि जनता को इन अफवाहों से बचाने और उन्हें सही सूचना देने तथा युद्ध की वास्तविक गतिविधि से परिचित कराने का कार्य करें। इस प्रकार हम न केवल शत्रुओं के प्रचार से बचे रहेंगे बल्कि सार्वजनिक संपत्ति की रक्षा करने में भी अधिक सतर्क रहेंगे।

हवाई-हमले से बचाव

नागरिक-सुरक्षा के तरीकों और साधनों को अपनाकर हवाई-हमले से होने वाली क्षति को कम किया जा सकता है। हवाई-हमले से बचने के लिए ब्लैक-आउट का अभ्यास पूरे नगर को होना चाहिए। प्रत्येक घर अथवा मोहल्ले में सुरक्षित स्थान निर्धारित होना चाहिए जहाँ हमले के समय सब लोग शरण ले सकें। इन सब बातों की जानकारी और इन सब बातों की व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व नागरिक-सुरक्षा-संगठनों पर होता है। नागरिकों का कर्तव्य है कि वे इन उपायों में पूरा सहयोग दें। थोड़ी सी असावधानी से बहुत बड़ी क्षति हो सकती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक बत्ती के जले रहने से पूरा नगर गोलाबारी का शिकार बन जाता है।

सैनिकों की सेवा-सहायता

युद्ध में घायलों को मरहमपट्टी और उनकी चिकित्सा व देखभाल के लिए अतिरिक्त सैनिक अस्पतालों की आवश्यकता होती है जिनमें और अधिक डाक्टरों, नर्सों, औषधियों, इंजेक्शनों, मरहमपट्टी के सामान, स्ट्रेचरों, मन बहलाने के लिए पत्र-पत्रिकाओं आदि की आवश्यकता पड़ती है। नागरिकों को भी प्राथमिक चिकित्सा का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए जिससे वे घायलों की सेवा कर सकें। युद्ध काल में घायलों को बचाने के लिए बहुधा रक्तदान की अपील की जाती है। नागरिकों का कर्तव्य है कि रक्त-दान के लिए भी तयार रहें। सैनिकों की सेवा-सहायता के लिए हर संभव प्रयत्न किए जाने चाहिए।

त्याग और सहयोग

युद्ध का समय संकट, विपत्ति और परीक्षा का समय होता है। हर प्रकार की कमी और कठिनाई सामने आती है। इसलिए सरकार की ओर से आवश्यक वस्तुओं पर राशनिंग कर दी जाती है। नागरिकों को चाहिए कि वे मुनाफाखोरी करने वाले और सामान दबाकर छिपा रखने वाले राष्ट्र-विरोधी तत्वों का विरोध करें। उन्हें सब प्रकार के कष्ट प्रसन्नतापूर्वक झेलने चाहिए तथा चाहिए कि एक दूसरे हससे योग करके राष्ट्र को दृढ़ बनाएँ। आपस की फट सबसे बड़ी कमजोरी होती

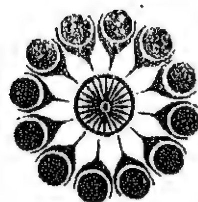
है। राष्ट्रीय एकता के बिना राष्ट्रीय प्रयास पूरा नहीं हो सकता। सुरक्षा का भार जितना सेना पर है उतना साधारण नागरिकों पर भी।

अभ्यास के प्रश्न

1) 'नागरिक-सुरक्षा' से तुम क्या समझते हो ?
2) देश की सुरक्षा में नागरिक क्या योगदान दे सकते हैं ?
3) युद्ध के समय अफवाहों के फैलने से क्या हानि होती है ?
4) सेना का मनोबल बढ़ाने के क्या उपाय हैं ?
5) टिप्पणी लिखिए—
   (क) हवाई-हमले से बचाव
   (ख) युद्धकाल में बचत का महत्त्व
   (ग) घायल सैनिकों की सहायता
   (घ) राशनिंग की आवश्यकता

कुछ करने को

1) किसी अस्पताल में जाकर यह ज्ञात करो कि घायलों को किन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है।
2) हवाई-हमले से बचने का पूर्वाभ्यास (रिहर्सल) करो।
3) किसी जवान के नाम एक पत्र लिखकर उसे यह बतलाओ कि तुम किस प्रकार उसकी सहायता कर सकोगे।



14 भारत की विदेश-नीति

आज के युग में कोई देश अपने को अन्य देशों से अलग नहीं रख सकता। कोई देश यह दावा नहीं कर सकता कि उसे किसी अन्य देश के सहयोग की आवश्यकता नहीं है। परस्पर व्यापार और वाणिज्य से सभी देश लाभ उठाते हैं। किसी एक देश में एक प्रकार की वस्तुओं का अधिक उत्पादन होता है तो किसी अन्य देश में दूसरी प्रकार की वस्तुओं का। आर्थिक क्षेत्र में ही क्यों, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी संसार के देश एक-दूसरे से मदद लेते हैं। इसलिए हर देश का यह प्रयत्न होता है कि अन्य देशों से मित्रता का संबंध बनाए रखे जिससे कि वह सामान्य हितों की रक्षा कर सके। स्पष्ट है कि प्रत्येक देश की विदेश-नीति उसके राष्ट्रीय हितों के साधनों की अभिवृद्धि करने के लिए बनाई जाती है।

इन्हीं उद्देश्यों से हर देश एक दूसरे के यहाँ राजदूत भेजता है। ये राजदूत विशेष सम्मानित मेहमान की तरह होते हैं। उनके कुछ विशेषाधिकार भी होते हैं जैसे युद्ध-काल में उनकी जान-माल की सुरक्षा का प्रबंध। यदि कोई राजदूत या दूतावास का कोई कर्मचारी उस देश की सरकार की दृष्टि में कोई अनुचित कार्य करता है तो उसे तत्काल अपने देश वापस जाने का आदेश दे दिया जाता है। युद्धकाल में या कभी आपसी मनमुटाव के कारण भी कुछ देश अपने राजदूतों को वापस बुला लेते हैं।

शांति की नीति

जिस समय हमारा देश स्वतंत्र हुआ हमारी मुख्य समस्या देश के आर्थिक विकास की थी। आर्थिक विकास केवल शांति के वातावरण में हो सकता है। युद्ध-काल में देश के सभी साधन युद्ध में लग जाते हैं, व्यापार-वाणिज्य ठप्प हो जाता है, समुद्री मार्ग सुरक्षित नहीं रहते और जनता का ध्यान युद्ध में विजय-प्राप्ति के लक्ष्य पर ही केन्द्रित रहता है। यदि कोई देश युद्ध में शामिल न भी होना चाहे तो भी वह उसके प्रभावों से बच नहीं सकता। पूरे विश्व के बाजारों में कीमतें बढ़ जाती हैं, आयात-निर्यात रुक जाता है और युद्ध के बाद बेरोजगारी बढ़ जाती है। इसलिए भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने विश्व-शांति को भारत की विदेश-नीति का लक्ष्य बनाया।

निर्गुटता की नीति

भारतीय विदेश नीति का प्रधान तत्व निर्गुटता है। द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व के अधिकांश राष्ट्र दो गुटों में बँट गए थे। एक गुट का नेतृत्व सोवियत संघ करता था जिसमें पूर्वी यूरोप के कुछ देश जैसे पोलैंड, पूर्वी जर्मनी, हंगरी, अल्बानिया, चेकोस्लोवाकिया तथा यूगोस्लाविया आदि थे। बाद में यूगोस्लाविया इस गुट से अलग हो गया। 1949 में चीन में साम्यवादी क्रांति सफल होने के बाद इस गुट को अधिक बल मिला। दूसरे गुट का नेतृत्व संयुक्त राज्य अमरीका करता था जिसमें ब्रिटेन, इटली, स्पेन, फ्रांस, पश्चिम जर्मनी, कनाडा, आयरलैण्ड आदि देश थे। जापान भी इस गुट के पक्ष में हो गया। इस प्रकार की गुटबंदी से विश्व में तनातनी, अविश्वास और संदेह का वातावरण बन गया जिसे शीत-युद्ध का वातावरण भी कहते हैं।

भारत ने इन गुटों को विश्वशांति के लिए अहितकर माना। वह इन दोनों गुटों में से किसी भी गुट का सदस्य नहीं बना तथा उनके द्वारा किए गए सैनिक गठबंधनों से भी अलग रहा। इस प्रकार हमारी विदेश-नीति का मूलमंत्र यह रहा है कि हम किसी गुट में शामिल नहीं होंगे बल्कि विश्व की घटनाओं पर हम अपना मत स्वतंत्र रूप से व्यक्त करेंगे।

निर्गुटता का सही अर्थ

बहुत से लोग हमारी विदेश नीति को 'तटस्थता' की नीति भी कहते हैं लेकिन ऐसा कहना उचित नहीं है। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, आजकल की दुनिया में कोई देश अंतर्राष्ट्रीय मामलों में तटस्थ या उदासीन नहीं रह सकता। उसे कोई न कोई कदम उठाना ही पड़ता है। जवाहर लाल नेहरू ने निर्गुटता की नीति को समझाते हुए एक बार कहा था—"गुटबंदी से इस तरह दूर रहने का यह अर्थ कदापि नहीं कि जब शांति और स्वतंत्रता के लिए खतरा पैदा हो जाए तब भी हम अपने देश को पृथक रखना चाहेंगे, न यह हमारी उदासीनता है, न तटस्थता है। जब मनुष्य की शांति या स्वतंत्रता खतरे में होगी, तब हम तटस्थ नहीं रह सकते, न रहेंगे।"

वास्तव में गुटों से अलग रहने के कारण ही हम अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं पर स्वतंत्रतापूर्वक विचार कर सकते हैं, किसी भी देश से व्यापार कर सकते हैं, सैनिक सामान खरीद सकते हैं अथवा सहायता ले सकते हैं। उदाहरणार्थ जब मिस्र पर आक्रमण हुआ तो हमने इंग्लैंड और फ्रांस की, और जब हंगरी और चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण हुआ तो सोवियत संघ की आलोचना की। इसी प्रकार कोरिया, वियतनाम, फिलस्तीन, कंबोडिया आदि देशों में युद्ध तथा कलह को बढ़ावा देने के लिए हम अमरीका की आलोचना करते रहे हैं। परंतु 1962 में चीनी आक्रमण के समय हमने इंग्लैण्ड और अमरीका से सैनिक सहायता माँगने में संकोच नहीं किया क्योंकि हमें अपने देश की रक्षा करनी थी, अन्यायपूर्ण अतिक्रमण का मुकाबला करना था।

संयुक्त राष्ट्र संघ का समर्थन

विश्व शांति के लक्ष्य को सामने रखकर ही हमने संयुक्त राष्ट्र संघ का समर्थन करना अपनी विदेश नीति का अंग बनाया। जरूरत पड़ने पर हमने संयुक्त राष्ट्र संघ के आदेशानुसार युद्ध विराम का निरीक्षण करने और शांति का संरक्षण करने के लिए कई स्थानों पर सैनिक दस्ते भेजे हैं। 1954 में हिन्द चीन युद्ध को समाप्त कराने में भारत ने गौरवपूर्ण भूमिका निभाई।

हमारी यह भी नीति रही है कि यथासंभव अंतराष्ट्रीय विवादों को बलप्रयोग के द्वारा नहीं वरन् शांतिपूर्ण उपायों से सुलझाया जाए। हमारे संविधान ने भी यह निर्देश दिया है कि हमें अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए तथा अंतर्राष्ट्रीय विवादों को पंचायती ढंग से सुलझाने का प्रयत्न करें। पाकिस्तान के साथ कच्छ सीमा विवाद को सुलझाने के लिए हमने एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण का निर्णय स्वीकार किया।

अन्याय का विरोध : अंतर्राष्ट्रीय न्याय का लक्ष्य

न्याय और शांति का चोली दामन का साथ है। जहाँ न्याय नहीं है वहाँ शांति कसी ? अन्याय पर आधारित शांति तो श्मशान की शांति के समान है। अतः जहाँ कहीं भी अन्याय हुआ, हमने उसका विरोध किया। दक्षिणी अफ्रीका की सरकार के 'जातीय भेदभाव' की नीति का हमने सदैव घोर विरोध किया। यहाँ तक कि हमने उस देश से अपना संबंध विच्छेद कर लिया है।

इसके अतिरिक्त, हमने पराधीन देशों या उपनिवेशों के स्वतंत्र होने की भावना के प्रति हार्दिक सहानुभूति व्यक्त की। हिन्द चीन में हमने फ्रांसीसी साम्राज्य का विरोध किया। वियतनाम में किए गए अमरीकी हस्तक्षेप का भी हमने विरोध किया। पुर्तगाली उपनिवेशों, अंगोला आदि के स्वाधीनता-संग्राम के पक्ष में भी हमने अपनी आवाज उठाई। हमारी विदेश-नीति उन राष्ट्रों का समर्थन करती है जो साम्राज्यवाद का विरोध और स्वाधीनता के लिए संघर्ष करते हैं।

पंचशील

पंचशील से तात्पर्य है पाँच व्रत या सिद्धांत। 23 सितंबर, 1954 को जवाहर लाल नेहरू ने भारत की विदेश-नीति की व्याख्या करते हुए पाँच सिद्धांतों पर बल दिया और उसे पंचशील का नाम दिया। धीरे-धीरे एशिया व अफ्रीका के अनेक राष्ट्रों ने इसे स्वीकार किया। यूरोप में सबसे पहले यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो ने इसका समर्थन किया। 'पंचशील' के अंतर्गत पाँच सिदधांत इस प्रकार हैं —

(1) एक दूसरे की प्रादेशिक अखंडता तथा सर्वोच्च सत्ता के लिए पारस्परिक सम्मान की भावना।
(2) एक दूसरे के भूभाग पर आक्रमण न करना।
(3) एक दूसरे के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना।
(4) समानता और पारस्परिक लाभ के सिद्धांत के आधार पर मैत्री पूर्ण संबंध होना।
(5) शांतिपूर्ण सहअस्तित्व में विश्वास रखना।

किसी दूसरे देश ने इन सिद्धांतों का पालन किया हो या न किया हो, अपने देश की विदेश-नीति इन्हीं पर आधारित रही है। जहाँ हम दूसरे देशों की प्रादेशिक अखंडता एवं विचारधाराओं का सम्मान करते हैं, वहाँ हम अपने देश की भी सुरक्षा एवं प्रादेशिक अखंडता को विशेष महत्त्व देते हैं। शांति या सह अस्तित्व का यह अर्थ कदापि नहीं है कि यदि हमारे देश पर कोई आक्रमण करे तो हम अपनी रक्षा न करें। चीन और पाकिस्तान द्वारा किए गए आक्रमणों के समय हमें देश की रक्षा के लिए सैनिक कार्रवाई भी करनी पड़ी। किन्तु हमने कभी किसी देश की प्रादेशिक अखंडता नष्ट नहीं की, न किसी के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप ही किया है।

निःशस्त्रीकरण

विश्वशांति की स्थापना के लिए हमारे देश ने निःशस्त्रीकरण की नीति का सदैव समर्थन किया है। संसार में शस्त्रों के अधिकाधिक उत्पादन से युद्ध की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं और ज्यों ज्यों युद्ध की संभावनाएँ बढ़ती जाती हैं, विभिन्न देश भाँति भाँति के अस्त्र शस्त्र के उत्पादन में लग जाते हैं। इसलिए इस विषम चक्र को तोड़ना ही पड़ेगा। शस्त्रीकरण की होड़ में लगे देश अपने आर्थिक विकास एवं सामाजिक उत्थान के लिए अधिक साधन नहीं जुटा पाते। अमरीका व रूस जैसे देश आणविक शस्त्रों के परीक्षण में ही इतना धन खर्च कर देते हैं जितना किसी छोटे देश की पंचवर्षीय योजना के लिए पर्याप्त हो सकता है। इसके विपरीत, इन परीक्षणों से धन और जन दोनों की बहुत अधिक हानि होती है। इसलिए सहस्रों

वैज्ञानिकों ने संयुक्त राष्ट्र संघ से यह अपील की है कि आणविक परीक्षण बंद कर दिए जाएँ। 1956 में भारत संघ ने निःशस्त्रीकरण से संबंधित एक प्रस्ताव संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा में प्रस्तुत किया। कुछ राष्ट्रों ने यह सुझाव रखा कि आणविक परीक्षण को बंद करने के लिए सभी राष्ट्र संधि-पत्र पर हस्ताक्षर करें। 1963 में जिन राष्ट्रों ने इस प्रकार के संकल्प पत्र पर सर्वप्रथम हस्ताक्षर किए उनमें भारत भी है। भारत ने अणुबम बनाने का सदा से विरोध किया है क्योंकि वह निःशस्त्रीकरण के प्रति दृढ़ आस्था रखता है। यद्यपि हमारा देश इस समय इस स्थिति में है कि अणुबम बना सके।

अपनी विदेश-नीति के आदर्श उच्च हैं। उन आदर्शों की प्राप्ति में हम पूर्णतया सफल नहीं हैं और हमें अनेक कठिन परिस्थितियों का भी सामना करना पड़ रहा है। इसलिए उसमें परिवर्तन लाने के लिए जनता द्वारा अनेक सुझाव प्रस्तुत किए जा रहे हैं। लोकतंत्रीय प्रणाली में विदेश-नीति भी जनमत का प्रतिनिधित्व करती है और बिना जन सहयोग के वह सफल भी नहीं हो सकती। समय की माँग पर हमें अपनी विदेश-नीति बदलनी भी पड़ सकती है पर हमारा देश विश्व कल्याण के सिद्धांत को हमेशा सामने रखना चाहता है।

अभ्यास के प्रश्न

1) विदेश-नीति से क्या तात्पर्य है ?
2) भारत की विदेश-नीति के मुख्य तत्त्व कौन से हैं ?
3) निर्गुटता की नीति से क्या लाभ है ?
4) 'पंचशील' के सिद्धांतों का वर्णन करो।
5) संसार के लिए निशस्त्रीकरण क्यों आवश्यक है ? इस संबंध में भारत की क्या नीति है ?

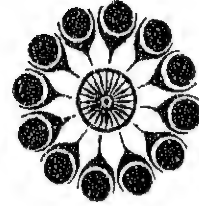
6) नीचे कुछ वाक्य दिए हैं, उनमें जो सही हों उन पर (√) निशान लगाओ :

(क) भारत की विदेश-नीति के आधारशिला 'तटस्थता' है ।

(ख) विश्वशांति के लिए निःशस्त्रीकरण आवश्यक है ।

(ग) छोटे देशों के निजी मामलों को सुलझाने में बड़े देशों को हस्तक्षेप करना चाहिए ।

(घ) देश की उन्नति के लिए दूसरे देशों से गुटबंदी करना आवश्यक है ।



15 भारत और उसके पड़ोसी

भारत के निकटतम पड़ोसियों में 1947 के पूर्व अफगानिस्तान, चीन, नेपाल, भूटान, सिक्किम, बर्मा तथा लंका थे। विभाजन के बाद पाकिस्तान नाम से एक अलग राज्य बन गया। पश्चिमी पाकिस्तान ने अफगानिस्तान को तथा पूर्वी पाकिस्तान ने बर्मा को हमसे पहले से अधिक दूर कर दिया। लेकिन व्यावहारिक रूप से हम इन्हें अपना पड़ोसी ही समझते हैं। कुछ अन्य देशों से भी, जो हमारे निकटतम पड़ोसी तो नहीं हैं हमारे बहुत ही पुराने सांस्कृतिक संबंध रहे हैं। इसलिए सांस्कृतिक दृष्टि से वे हमें काफी निकट लगते हैं। उनमें बर्मा (सुवर्ण भूमि), मलाया (सुवर्णद्वीप) कंबोडिया (कंबोज) और जावा (यवद्वीप) के नाम उल्लेखनीय हैं। इन देशों में भारतीय व्यापारी तथा धर्म-प्रचारक बड़ी संख्या में बस गए। वहाँ रामायण, महाभारत तथा बौद्ध धर्म से संबंधित साहित्य एवं कला का विकास हुआ। कंबोडिया में बेयान और जावा में बोरोबुदुर के मंदिर आज भी प्राचीन संबंधों को याद दिलाते हैं। अनेक भारतीय हिमालय को पार करके तिब्बत और चीन तक चले गए। वहाँ से अनेक यात्री भारत आए। उनमें फाहियान व ह्वेनसाङ के नाम उल्लेखनीय हैं।

मध्यकाल में इन पड़ोसी राज्यों से भारत की घनिष्ठता कम हो गई और इन राज्यों को भी पश्चिमी राष्ट्रों की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का शिकार होना पड़ा। भारत के आजाद होने तथा चीन में क्रांति होने से एशिया में नई जागृति आई। बर्मा, मलाया, इंडोनेशिया, लंका आदि देश भी स्वतंत्र हुए। भारत ने सदैव अपने पड़ोसी तथा सुदूरस्थित पड़ोसी राज्यों की आकांक्षाओं और कठिनाइयों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण भाव प्रदर्शित किया है। पहली बार 'एशियाई संबंध सम्मेलन' 1947 में दिल्ली में बुलाया गया। स्वर्गीय प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने वहाँ घोषणा की थी कि—"एशिया के देश चिरकाल तक पश्चिमी देशों के दरबारों में प्रार्थी और भिक्षुक बने रहे हैं। अब यह अतीत की कथा हो जानी चाहिए। हम चाहते हैं कि हम अपने पैरों पर खड़े हों। जो हमारे साथ सहयोग करें, हम उनके साथ सहयोग करने को तैयार हैं, लेकिन हम दूसरों के हाथ का खिलौना नहीं बनना चाहते।" 1949 में भारत ने इंडोनेशिया को उच्च साम्राज्य की पराधीनता से मुक्त कराने की जोरदार अपील की। इसी प्रकार भारत ने वियतनाम तथा कंबोडिया की स्वतंत्रता के लिए भी प्रयत्न किया। अरब राज्यों में प्रभावशाली साम्राज्यवाद का भी विरोध किया।

नेपाल, भूटान तथा सिक्किम

नेपाल, भूटान और सिक्किम के राज्य हिमालय के अंचल में स्थित हैं। नेपाल और भारत की सीमाएँ उत्तर प्रदेश के उत्तर में तथा हिमालय पर्वत के दक्षिणी ढाल पर हैं। कोई व्यक्ति भारत से गुजरे बिना नेपाल नहीं जा सकता और न नेपाल से कोई व्यक्ति बिना भारत से निकले संसार के किसी अन्य भाग में जा सकता है। नेपाल का व्यापार तथा मनुष्यों का आवागमन भारत होकर ही संभव है। नेपाल के आंतरिक मामलों में भारत ने हस्तक्षेप न करने की नीति का ही अनुसरण किया है। हाँ, जब नेपाल में सबल लोकतंत्र स्थापित करने के लिए वहाँ के निवासी आंदोलन व विद्रोह करने लगे तो भारत सरकार ने नेपाल को प्रगतिशील एवं जनतंत्रवादी कदम उठाने की मैत्रीपूर्ण सलाह दी। नेपाल और भारत के बीच कुछ समय के लिए कटुता अवश्य आ गई थी किन्तु अब दोनों ही देशों में मित्रता

व सहयोग की भावना का आदर किया जा रहा है। भारत ने नेपाल के आर्थिक विकास में यथाशक्ति सहयोग प्रदान किया है। हमने उन्हें नेपाल और भारत के बीच एकमात्र सड़क 'त्रिभुवन राजपथ' निर्माण करने में भी सहायता दी है। वस्तुतः यह दोनों ही देशों के हित में है कि उनमें घनिष्ठतर राजनीतिक संबंध स्थापित किए जाएँ। धर्म, संस्कृति, इतिहास, व्यापार, वाणिज्य आदि तत्वों से तो भारत-नेपाल के संबंध पहले से ही अटूट हैं।

लंका

लंका में बौद्ध धर्म की प्रधानता है और भारत बौद्ध धर्म का जन्मदाता है। सम्राट अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा ने लंका-यात्रा की थी तथा वहाँ बौद्ध धर्म के प्रचार में योग दिया था। बौद्ध धर्म के अनेक तीर्थ जैसे साँची, सारनाथ, बौद्धगया, कसिया आदि भारत में होने के कारण, हजारों लंकावासी भारत में तीर्थ यात्रा के लिए आते हैं। भारत और लंका के व्यापारिक संबंध भी अच्छे हैं। लंका प्रति वर्ष भारत से करोड़ों रुपए का सामान मँगाता है। 1968 में भारत से माल खरीदने वाले देशों में लंका का आठवाँ नंबर था। लंका में दक्षिण भारत के लोग काफी बड़ी संख्या में बसे हुए हैं। वहाँ वे मुख्यतः चाय और रबड की खेती करते हैं। लंका और भारत के बीच राजनैतिक संबंध मैत्रीपूर्ण हैं। भारत-चीन सीमा-विवाद में लंका ने भारत के पक्ष का समर्थन किया था।

चीन

भारत और चीन संसार के सबसे बड़े राज्य हैं। संसार की जनसख्या का लगभग एक तिहाई भाग इन दोनों देशों में बसा है। दोनों पड़ोसी सदियों से मित्र रहे हैं। उस जमाने में जब आने-जाने के साधन बहुत दुर्लभ थे तथा कठिनाइयों एवं संकटों से परिपूर्ण थे ; चीन और भारत के निवासी एक दूसरे के देश में जाने के लिए आतुर रहते थे। दोनों देशों में सांस्कृतिक संबंध बनाए रखने में बौद्ध धर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण योग रहा है। भारत से अनेक बौद्ध विद्वान चीन गए। उनमें बुद्धभद्र, परमार्थ, गुणभद्र, धर्मगुप्त तथा धर्मरक्ष के नाम प्रमुख हैं। तिब्बत में पद्म

संभव का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। भारत में भी फाहियान, ह्वेनसाङ, इत्सिङ आदि अनेक चीनी यात्री अपनी ज्ञान-पिपासा शांत करने को आए। बहुत से चीनी विद्यार्थी नालंदा विश्वविद्यालय में पढ़ने आया करते थे। सहस्रों वर्ष प्राचीन सभ्यता वाले ये देश अपनी विशिष्ट व विभिन्न संस्कृति के बावजूद अच्छे पड़ोसी की तरह रहते रहे।

प्राचीन काल से लेकर अभी कुछ वर्ष पूर्व तक इन दोनों देशों के राजनैतिक संबंध भी मित्रतापूर्ण रहे हैं। 1947 में भारत आजाद हुआ और 1949 में चीन में साम्यवादी क्रांति हुई। संयुक्त राष्ट्र संघ का राष्ट्रवादी चीन सदस्य रहा है अतः बड़े राष्ट्रों ने नए चीन को राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं बनने दिया। भारत ने साम्यवादी चीन को राष्ट्र संघ का सदस्य बनाए जाने की जोरदार वकालत की। चीन ने भी भारत द्वारा प्रस्तावित शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति की सराहना की और 'पंचशील' पर हस्ताक्षर किए। लेकिन अब तक चीन अपनी सैन्यशक्ति बढ़ा चुका था और अपने राज्य की सीमा का विस्तार करके उसे संगठित करना चाहता था। फलस्वरूप भारत और चीन के बीच सीमा-विवाद उठ खड़ा हुआ। भारत ने उसे समझाने और सुलझाने के प्रयत्न भी किए किन्तु चीन की विस्तारवादी नीति के सामने सब प्रयत्न विफल हुए। 20 अक्टूबर, 1962 को नेफा और लद्दाख प्रदेश में चीनियों ने भारी संख्या में आक्रमण कर दिया। हमने अपनी मातृभूमि के इन बर्फीले व पहाड़ी प्रदेशों की रक्षा के लिए पूरी ताकत लगा दी। दूसरे देशों से भी हमें सहायता मिली एवं समर्थन प्राप्त हुआ। अचानक 22 नवंबर 1962 को चीन ने युद्ध विराम की घोषणा कर दी। युद्ध तो रुक गया लेकिन दोनों देशों में अब भी तनावपूर्ण स्थिति है। विवादग्रस्त भारतीय क्षेत्र अब भी चीन के अधिकार में हैं और उन्हें मुक्त कराने के लिए हम लोग कृत संकल्प हैं।

पाकिस्तान

1947 में भारत के ही कुछ प्रदेशों को अलग करके पाकिस्तान की स्थापना की गई। इसका आधार यह था जिन प्रदेशों में मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक है, उन प्रदेशों को मिलाकर मुसलमानों का अलग राज्य होना

चाहिए। भारत और पाकिस्तान के बीच जब भूमि का विभाजन हुआ तो उसमें मतभेद होना स्वाभाविक था। सीमा-विवाद के साथ ही नदियों के पानी के बटवारे की समस्या भी गंभीर थी। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान से आए हिन्दुओं की संपत्ति जो पाकिस्तान में ही छूट गई है दोनों देशों में विवाद का कारण बन गई है। ऐसी ही अनेक छोटी व बड़ी समस्याएँ हैं जिनके समाधान न होने से दोनों देशों में सद्भावना का अभाव बना हुआ है।

कुछ वर्ष पूर्व पाकिस्तान और भारत के निवासी एक ही देश के वासी कहलाते थे। यद्यपि वे आज अलग-अलग राज्यों के नागरिक हैं तथापि उनके संबंध अब भी किसी न किसी रूप में बने हैं। उदाहरणार्थ प्रति वर्ष सहस्रों पाकिस्तानी अजमेर-शरीफ में तीर्थ करने आते हैं। उनकी अधिकांश रिश्तेदारियाँ भी भारत में हैं। इसी तरह भारत के बहुत से हिन्दुओं के भी संबंधी पाकिस्तान में हैं। पूर्वी और पश्चिमी बंगाल के रहने वालों की वेशभूषा, भाषा, बोलचाल, साहित्य और कलाकृतियों को देख-सुनकर कौन कह सकता है कि ये भिन्न-भिन्न राज्य के नागरिक हैं ? पाकिस्तानी पंजाब और भारतीय पंजाब के निवासियों में भी अधिक अंतर नहीं है। लेकिन राजनतिक परिस्थितियों के कारण भारत का विभाजन हुआ और दोनों देशों में कटुता व बैर भाव पनपता रहा।

सीमा-विवाद और नदियों के पानी से संबंध रखने वाले झगड़े उतने गंभीर साबित नहीं हुए जितना कि कश्मीर संबंधी विवाद। 1947 से पाकिस्तान कश्मीर पर अपना दाँत लगाए है। आजादी मिलने के 15 दिन बाद ही कश्मीर में पाकिस्तान ने आक्रमण कर दिया और उसके एक बड़े भूभाग पर अधिकार कर लिया। भारत ने भी अपनी फौजें भेजीं जिससे पाकिस्तानी फौजों का आगे बढ़ना रुक गया। भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के आदर्शों के अनुकूल यह झगड़ा स्वयं सनिक-शक्ति से न सुलझाकर संयुक्त राष्ट्र संघ को सौंप दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयत्नों से पाकिस्तानी फौजें कुछ पीछे हट गईं लेकिन कश्मीर के एक महत्वपूर्ण भू-भाग को पाकिस्तान अपने अधिकार में आज भी किए हुए है। इस भू-भाग को 'पाकिस्तान-अधिकृत कश्मीर' कह सकते हैं।

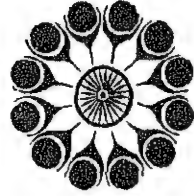
5 अगस्त, 1965 को पाकिस्तान ने कश्मीर छीनने का एक वृहद प्रयास किया। इसके पूर्व वह अमरीका आदि पश्चिमी देशों से सैनिक सहायता प्राप्त कर चुका था। वह इसी उद्देश्य से सीटो और बगदाद संगठन का सदस्य भी बन गया था। लंबी तैयारी के बाद किए गए इस आक्रमण में पाकिस्तान को मुँह की खानी पड़ी। अंत में संयुक्त राष्ट्र संघ ने बीच में हस्तक्षेप किया और 23 सितंबर, 1965 को युद्ध-विराम हो गया। रूस के प्रधानमंत्री ने पाकिस्तान के राष्ट्रपति अय्यूब खाँ और भारत के प्रधानमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री को समझौता कराने के उद्देश्य से ताशकंद में आमंत्रित किया। यह वार्ता 4 जनवरी से 10 जनवरी, 1966 तक चलती रही। 10 जनवरी को दोनों देशों ने एक समझौता किया जिसे 'ताशकंद समझौता' कहते हैं। आशा की जाती थी कि पाकिस्तान की भावनाओं में स्थायी परिवर्तन होंगे और दोनों देशों के संबंधों में सुधार होगा। लेकिन पाकिस्तान के कथनों और आचरण से यह स्पष्ट है कि वह सद्भावना एवं मैत्रीपूर्ण भाव से प्रेरित होकर कार्य करने की दिशा में बहुत पीछे है। भारत की न उसकी भूमि पर आँख है और न वह उसके किसी निजी मामलों में हस्तक्षेप ही करना चाहता है लेकिन मैत्री के लिए दूसरे को भी हाथ बढ़ाना होता है।

अभ्यास के प्रश्न

1) नेपाल, सिक्किम तथा भूटान की स्थिति भारत के अन्य पड़ोसी राज्यों से किस प्रकार भिन्न है ?
2) प्राचीन काल में चीन और भारत के संबंध कैसे थे ?
3) चीन ने भारत पर क्यों आक्रमण किया ?
4) पाकिस्तान और भारत के बीच किन बातों पर विवाद हैं ?
5) टिप्पणी लिखिए—(1) त्रिभुवन राजपथ (2) ताशकंद समझौता।

कुछ करने को

1) भारत के मानचित्र में उसके पड़ोसी देशों की सीमाएँ दिखाओ।
2) कश्मीर के मानचित्र में वे क्षेत्र दिखाओ जो पाकिस्तान के अधिकार में है।



16 भारत और संयुक्त राष्ट्र संघ

द्वितीय महायुद्ध में भीषण नर-संहार व रक्तपात हुआ। लाखों लोग मारे गए, करोड़ों लोग घायल, अपंग व अपाहिज हुए और धन-संपत्ति की जो हानि हुई उसका कोई हिसाब ही नहीं लगाया जा सकता। विश्व के अनेक नेता चिंतित हो उठे कि यदि तीसरा महायुद्ध हुआ तो पूरे संसार का ही विनाश हो जाएगा। अत: वे एक ऐसे संगठन की कल्पना करने लगे जो संसार को भयंकर युद्ध की पीड़ा से बचा सके। प्रथम महायुद्ध के बाद (1919) भी इसी उद्देश्य से एक विश्व संगठन की स्थापना की गई थी जिसका नाम लीग ऑफ नेशन्स था। यह संस्था संसार में युद्ध रोकने में सफल न हुई। द्वितीय महायुद्ध में पुनः इस प्रकार के संगठन की आवश्यकता महसूस होने लगी और 1 जनवरी, 1942 को ब्रिटेन, अमरीका, चीन और रूस की ओर से एक घोषणा हुई जिसमें विभिन्न राष्ट्रों के संगठन की स्थापना की आवश्यकता पर जोर दिया गया। 30 अक्तूबर, 1943 को ब्रिटेन, अमरीका, चीन, रूस व फ्रांस के विदेश मंत्रियों ने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की—"हम इस बात की आवश्यकता महसूस करते हैं कि जितनी शीघ्र हो सके, एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन

बनाया जाए। यह संगठन समस्त शांतिप्रेमी राज्यों की समान प्रभुता पर आधारित होगा और इसकी सदस्यता छोटे तथा बड़े राज्यों के लिए खुली होगी। इसका उद्देश्य शांति तथा सुरक्षा स्थापित करना होगा।"

यू. एन. ओ. की स्थापना

इन उद्देश्यों को लेकर 50 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन अमरीका के प्रमुख नगर सैन फ्रांसिस्को में 1945 के अप्रैल महीने में बुलाया गया। इन पचास राष्ट्रों ने मिलकर संयुक्त राष्ट्र संघ (यू॰ एन॰ ओ॰) की विधिवत स्थापना की। तभी से प्रत्येक वर्ष 24 अक्टूबर को हम संयुक्त राष्ट्र का जन्मदिवस मनाते आ रहे हैं। 1970 में संयुक्त राष्ट्र संघ की रजत जयंती भी मनाई गई।

संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र में निम्नलिखित चार उद्देश्य बताए गए हैं—(1) अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा स्थापित करना। (2) विभिन्न राष्ट्रों में परस्पर मित्रता पूर्ण संबंध स्थापित करना। ये संबंध मानव के समान अधिकारों तथा आत्मनिर्णय के सिद्धांत पर आधारित होने चाहिए। (3) अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा मानवता की समस्याओं को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने में मदद करना। (4) उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न राष्ट्रों के कार्यों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए इस संस्था का एक केन्द्र के रूप में प्रयोग करना।

इन उद्देश्यों के अध्ययन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य उद्देश्य मानवता को युद्ध के आतंक से बचाना है। विश्व में शांति स्थापित हो जाने पर ही राष्ट्र अपनी संपूर्ण शक्ति और साधन जनता का जीवन-स्तर ऊँचा करने में लगा सकेंगे। ये उद्देश्य ऐसे हैं जो हमारे राष्ट्रीय उद्देश्यों के अनुकूल हैं। हमारे संविधान ने भी इस अंतर्राष्ट्रीय संस्था के आदर्शों को मान्यता दी है। संविधान में इसका उल्लेख किया गया है।

संयुक्त राष्ट्र संघ का संगठन

संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख अंग छः हैं—महासभा (जनरल एसेम्बली), सुरक्षा परिषद् (सिक्यूरिटी काउन्सिल), आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् (इकनोमिक

एंड सोशल काउन्सिल), प्रन्यास परिषद् (ट्रस्टीशिप काउन्सिल), अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय (इंटरनेशनल कोर्ट ऑफ जस्टिस) तथा सचिवालय (सेक्रेटेरिएट)

महासभा के सभी सदस्य सदस्य-राष्ट्रों के प्रतिनिधि के रूप में होते हैं। प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र महासभा में पाँच प्रतिनिधि तक भेज सकता है लेकिन मतदान के समय वह राष्ट्र एक ही मत देने का अधिकारी है। इसकी बैठक वर्ष में एक बार होती है। इसका सभापति एक वर्ष के लिए चुना जाता है। एक बार महासभा ने भारत की प्रतिनिधि श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित को अपना सभापति चुना था। इस सभा में सदस्य-राष्ट्र महत्त्वपूर्ण विषयों पर वाद-विवाद करते हैं। इसी सभा के सदस्यों में से भिन्न-भिन्न परिषदों के सदस्य नियुक्त किए जाते हैं।

सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र संघ की सबसे महत्त्वपूर्ण अंग मानी जाती है। इस में स्थायी तथा अस्थायी सदस्य होते हैं। स्थायी सदस्यों में अमरीका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस तथा राष्ट्रवादी चीन हैं। शेष दस अस्थायी सदस्य दो वर्षों के लिए महासभा द्वारा चुने जाते हैं। भारत कई बार इस परिषद् का सदस्य निर्वाचित हो चुका है।

आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् में 18 सदस्य होते हैं। ये तीन वर्ष के लिए महासभा द्वारा निर्वाचित होते हैं। इस परिषद् का उद्देश्य विभिन्न राष्ट्रों का आर्थिक तथा सामाजिक विकास करना है।

प्रन्यास परिषद् कुछ विशिष्ट प्रदेशों के शासन की देख-रेख व निरीक्षण करती है। इन प्रदेशों में कुछ तो वे हैं जो पहले लीग ऑफ नेशन्स से प्रशासित होते थे और कुछ द्वितीय महायुद्ध के बाद प्रशासन हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ के अंतर्गत आ गए हैं।

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में 15 न्यायाधीश होते हैं जो 9 वर्ष तक अपने पद पर रह सकते हैं। यह न्यायालय अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों पर विचार करता है।

सचिवालय में संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्य-संचालन के लिए कर्मचारी वर्ग रहता है। इसका मुख्य प्रशासक महामंत्री (सेक्रेटरी जनरल) होता है। महामंत्री को सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा नियुक्त करती है। प्रशासनिक कार्यों के

अतिरिक्त उसका यह भी दायित्व है कि अंतर्राष्ट्रीय शांति भंग करने वाले मामलों की ओर सुरक्षा परिषद् का ध्यान आकर्षित करे। आजकल इसके महासचिव श्री ऊ थाँ हैं। ये बर्मा देश के निवासी हैं। इनको नेहरू शांति पुरस्कार भी मिल चुका है।



श्री ऊ थाँ

विशेष संस्थाएँ

संयुक्त राष्ट्र संघ के आर्थिक व सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनेक विशेष संस्थाएँ बनाई गई हैं। ये संस्थाएँ आर्थिक व सामाजिक परिषद् के अंतर्गत कार्य करती हैं। इन संस्थाओं के नाम इस प्रकार हैं—

(1) अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन

(2) खाद्य और कृषि संगठन

(3) अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

(4) अंतर्राष्ट्रीय नागरिक यातायात संगठन

(5) पुनर्निर्माण और विकास के लिए अंतर्राष्ट्रीय बैंक
(6) संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षणिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन
(7) विश्व स्वास्थ्य संगठन
(8) अंतर्राष्ट्रीय शरणार्थी संगठन
(9) अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन

संयुक्त राष्ट्र संघ का सहयोग

भारत ने प्रारंभ से ही संयुक्त राष्ट्र संघ को हर संभव सहयोग प्रदान किया। इस विश्व संगठन के पास अपनी कोई सेना नहीं है लेकिन इसे अकसर युद्ध विराम के प्रस्तावों को लागू कराने के लिए सैनिकों की आवश्यकता होती है। ऐसे अवसरों पर संयुक्त राष्ट्र संघ विभिन्न राष्ट्रों से सैनिक भेजने का अनुरोध करता है। भारत ने अनेक अवसरों पर अपने सैनिक भेजे और संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ सहयोग किया। कोरिया के युद्ध में भारत ने डाक्टरों का एक दल युद्ध के घायलों की प्रारंभिक चिकित्सा के लिए भेजा था। भारत की निष्पक्षता से प्रभावित होकर उसे युद्ध-बंदियों से संबंधित आयोग का अध्यक्ष बनाया गया था। अमरीका के भूतपूर्व राष्ट्रपति आइजनहावर ने भारत की प्रशंसा करते हुए कहा था—"अभी हाल के वर्षों में किसी भी अन्य सेना ने कोरिया में भारतीय फौजों की अपेक्षा अधिक नाजुक और कठिन कार्य नहीं किया है। इन अफसरों तथा सैनिकों का कार्य भारतीय सेना की उच्चतम ख्याति के अनुरूप था। वे उच्चतम प्रशंसा के पात्र हैं।"

1954 में हिन्द चीन के युद्ध विराम का निरीक्षण करने के लिए जो आयोग नियुक्त किया गया था उसका भी अध्यक्ष भारत को ही बनाया गया। संयुक्त राष्ट्र के आदेश पर भारतीय सैनिक गाजा पट्टी और लेबनान में भी शांति स्थापित करने गए। भारतीय सैनिक अधिकारियों की देख-रेख में संयुक्त राष्ट्र की शांति सेना ने कई बार काम किया है।

हमारे देश ने सभी पराधीन देशों की स्वाधीनता के पक्ष में और जातीय भेद-भाव के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ में अपने विचार व्यक्त किए। हमने इंडोनेशिया, लीबिया, ट्यूनीशिया, मलाया, घाना आदि देशों की स्वतंत्रता का समर्थन किया।

1960 में महासभा ने पराधीन देशों को स्वतंत्रता दिए जाने से संबंधित एक घोषणा-पत्र जारी किया। इस घोषणा-पत्र को कार्यान्वित करने के लिए जो समिति बनी उसका प्रथम अध्यक्ष भारत का प्रतिनिधि बनाया गया। दक्षिणी अफ्रीका में अश्वेत व्यक्तियों के मानवीय अधिकारों के अपहरण के विरोध में भारत ने महासभा में अनेक बार प्रश्न उठाए और विश्व का ध्यान इस जातीय भेद-भाव को समाप्त करने की आवश्यकता की ओर आकर्षित किया।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अंतर्गत एक निःशस्त्रीकरण सम्मेलन गठित किया गया है। इसके सदस्य 18 राष्ट्रों के प्रतिनिधि हैं जिनमें भारत भी है। इसमें भारत ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। हमने सदा इस पक्ष का समर्थन किया है कि आणविक शक्ति का केवल मानव-कल्याण के लिए प्रयोग किया जाए, युद्ध के अस्त्र-शस्त्र बनाने के लिए नहीं। भारत की प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने संयुक्त राष्ट्र संघ के रजत-जयंती समारोह के अवसर पर महासभा में निःशस्त्रीकरण की वक्त की माँग बताते हुए कहा था, "इस समय हथियारों के उत्पादन पर जो धन खर्च किया जा रहा है, यदि उसका कुछ हिस्सा भी कम कर दिया जाए तो उससे मानवता के कल्याण और भलाई के असीम साधन उपलब्ध हो जाएँगे जिनसे आर्थिक विषमता को कम करने में काफी सहायता मिलेगी।"

संयुक्त राष्ट्र संघ से भारत को लाभ

भारत ने जहाँ एक ओर संयुक्त राष्ट्र संघ को अनेक प्रकार से सहयोग प्रदान किया है वहाँ दूसरी ओर भारत को भी इससे बहुत सहायता मिली है। संयुक्त राष्ट्र संघ की विशेष संस्थाओं ने भारत की सामाजिक, शैक्षिक, तकनीकी, आर्थिक तथा वैज्ञानिक उन्नति में सराहनीय योग दिया है।

खाद्य एवं कृषि संगठन ने उत्तर प्रदेश में तराई के प्रदेश को कृषि योग्य बनाने में सहायता दी है। राजस्थान में रेगिस्तान को फैलने से रोकने तथा इसे हरा-भरा बनाने में भी यह संगठन प्रयत्नशील है। भारत में मत्स्य-उद्योग तथा चावल-उत्पादन के अनुसंधान केन्द्र भी स्थापित किए गए हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भारत में जन-स्वास्थ्य के लिए प्रशंसनीय कार्य किए हैं। इसके माध्यम से भारत को मलेरिया-उन्मूलन के लिए डी० डी० टी० तथा टी० बी० (तपेदिक) के निवारण के लिए बी० सी० जी० वैक्सीन पर्याप्त मात्रा में मिल सकी है। इसने चिकित्सा के क्षेत्र में उच्च अध्ययन हेतु अनेक छात्र-वृत्तियाँ भी दी हैं। इसने बच्चों के स्वास्थ्य के लिए मातृ एवं बाल कल्याण संबंधी अनेक प्रकार की सहायता व सुविधाएँ भी दी हैं।

भारत को शक्षणिक व सांस्कृतिक क्षेत्र में भी संयुक्त राष्ट्र संघ से काफी मदद मिली है। इसकी विशेष संस्था 'यूनेस्को' (UNESCO) ने भारत में शिक्षा-प्रसार में यथेष्ट योगदान दिया है। इसी की सहायता से दिल्ली स्थित जामिया मिल्लिया ने प्रौढ़ों को साक्षर बनाने तथा उनके योग्य साहित्य तैयार कराने का कार्य प्रारंभ किया है। तकनीकी सहायता देने, अध्यापकों एवं छात्रों का विभिन्न देशों से आदान-प्रदान होने तथा सांस्कृतिक संपर्क बढ़ाने—इन सभी कार्यों में भारत को यूनेस्को से सहायता मिली है।

भारत के औद्योगिक विकास में भी संयुक्त राष्ट्र संघ ने विभिन्न तरीकों से सहायता पहुँचाई है। पंचवर्षीय योजनाओं के लिए अंतर्राष्ट्रीय बैंक से ऋण प्राप्त हुए हैं। अनेक योजनाओं को सफल बनाने के लिए हमें तकनीकी विशेषज्ञों का परामर्श भी उपलब्ध हुआ है।

इस प्रकार भारत संयुक्त राष्ट्र संघ की सहायता से बराबर अपने आदर्शों और उद्देश्यों की पूर्ति करने में लगा है। साथ ही वह संघ को भी अपना पूरा सहयोग प्रदान कर रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि संसार के देश संयुक्त राष्ट्र संघ से लाभान्वित हुए हैं। भारत के सुझाव पर 1965 के वर्ष को संयुक्त राष्ट्र संघ के 'अंतर्राष्ट्रीय सहयोग वर्ष' के रूप में मनाया गया। वास्तव में आधुनिक विज्ञान, कला, तकनीकी प्रगति आदि अब राष्ट्रीय सीमाएँ पार कर चुकी हैं। अतः अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में भी मानव-कल्याण निहित है।

अभ्यास क प्रश्न

1) संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना क्यों हुई ?
2) संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्य अंगों का संक्षिप्त परिचय दो।
3) संयुक्त राष्ट्र संघ की विशेष संस्थाओं में से किन्हीं चार के नाम व कार्य लिखो।
4) भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ को किस प्रकार सहयोग प्रदान किया ?
5) भारत को संयुक्त राष्ट्र संघ क। सदस्यता से क्या लाभ हुए ?
6) निम्नलिखित में से कौन संयुक्त राष्ट्र संघ की विशेष संस्था हैं—
    i) सुरक्षा परिषद्
    ii) अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय
    iii) प्रन्यास परिषद्
    iv) विश्व स्वास्थ्य संगठन
    v) आर्थिक तथा सामाजिक परिषद्
7) संयुक्त राष्ट्र संघ से संबंधित जो तथ्य सही हों उनके आगे (✓) का चिन्ह लगाओ—
    क) इसके पास एक बड़ी सेना है।
    ख) इसके अध्यक्ष को राष्ट्रपति कहते हैं।
    ग) सुरक्षा परिषद् में पाँच सदस्य स्थायी हैं।
    घ) अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष इसकी विशेष संस्था है।
    ङ) अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय इसका प्रमुख अग है।

कुछ करने को

1) विभिन्न देशों के डाक-टिकट एकत्र करो।
2) विश्व के मानचित्र में संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख सदस्य-राष्ट्रों को दिखलाओ।
3) किसी दूसरे देश के निवासी को एक पत्र लिखो और उस देश की भाषा, वेश-भूषा आदि की जानकारी दो।
4) संयुक्त राष्ट्र संघ के दिल्ली कार्यालय से उनके प्रकाशनों की सूची उपलब्ध करो।

the book which is put under the counter. The reader uses the numbered pocket as though it were his ticket; that is to say, the book card of the book he takes out is put therein and filed Later on, when all the captains and kings have departed, the books are discharged and the real tickets substituted for the numbered book pockets and the real book cards for the numbered cards. There *is* one disadvantage that may worry the purist—we cannot tell whether a man takes a novel on a non-fiction ticket. But, in the words of a famous comedian, "we don't suppose it matters!", it certainly matters less than an enormous queue and indigestion-stricken assistants That, however, is only one example of how such problems may be faced. The question is: Do we try to face them?

A little time devoted to "motion study" and the lay-out and positioning of the counter, though it might not, saving in a large library, lead to actual reduction of staff, would surely add to staff comfort and efficiency.

This sort of study is only one of the things that might be undertaken had we more opportunity for experiment and investigation. It is the fashion in certain circles to decry the discussion of technical matters; it is said that the technique of librarianship was settled years ago by Brown, Jast and their colleagues. These men made great contributions to "practical" librarianship, but a great deal remains to be done.

If we may switch over to another aspect of staffing in relation to the incidence of public demand—the

reverse aspect—we venture the heretical suggestion that, especially in small libraries and branches, the effects of limitation of opening hours for lending departments should be considered. Again, it is the fashion to assert that libraries should keep open for long hours, should abolish half-day closing, and so on. We suggest, on the contrary, nothing less than that, when the number of assistants is limited by financial or other reasons, it is better to open for shorter hours during which there is sufficient staff on duty than to open for hours when, though the public demand is small, assistants must be on duty, and clearly cannot do other work as satisfactorily as they could without the distractions of public service. We admit that whenever public demand justifies it, and whenever the staff is really sufficient, we might well consider public convenience and prefer long hours, but we must have a sense of proportion. The important points are that people should know when the library is open and that the opening hours should be so arranged that no section of readers is unlikely to find some suitable open hours We might also suggest that if readers are allowed to borrow sufficient books at a time, the disadvantage of shorter hours is minimized.

The busy library must, of course, welcome long hours as a means of "spreading" some of the pressure upon it, the smaller place with considerable slack periods might be well advised to revise its ideas of opening hours. For this reason also we have serious

doubts as to the wisdom in smaller places of abolishing "half-day" closing—provided the library is not closed on the local shop closing day. May we go further? We were formerly in charge of a system, neither small nor slack, where the central lending was closed for one whole day each week. We were frequently criticized by non-resident librarians; no complaint was ever received from the local public, we are prepared to assert that this closing did not diminish by 0·1 per cent the total use made of that system. The advantages to staff and administration were very considerable—whole days off duty for several assistants, half days for others with the chance to do without interruption many desirable things, and a better staff for the rest of the week.

We do not suggest that this whole-day closing might suit all libraries: on the contrary. We do, however, urge the necessity for reviewing all our methods and habits realistically.

V

The best utilization of staff abilities depends partly upon the proper allocation of non-professional and professional duties and partly upon the adequate but not excessive professional staffing of public departments. It is, manifestly, uneconomical to allow any qualified professional person to spend any time unnecessarily upon duties which less capable people could perform equally well. This is a matter which calls for the frequent analysis of staff duties which in most

libraries would disclose waste of this type. Too many seniors spend much of their time doing or supervising clerical work, we even know instances of chief librarians who devote energy to tasks which their secretaries or clerks could perform effectively.

Nevertheless, we must avoid the illusion that there is not ample scope for professional work in direct contact with the public. The tendency to limit professional contacts with users is undesirable yet prevalent, especially in larger lending libraries. It would seem to be the way of the library world, however, that if you put a man in a lending department he will gravitate to the counter, but that if counter work does not detain him he disappears into an office out of public ken.

The proper professional staffing of lending departments is not in fact easy to achieve The difficulty is increased by the normal tendency of readers in need of assistance to seek it from those who actually serve them. Consequently the various experiments in providing "inquiry desks" or "shelf-walkers" have not always proved immediately successful Nevertheless, it is a good thing to keep the professional assistant (or assistants) out of the actual counter, though in the department, not only because readers will gradually appreciate his function and turn to him for help, but also because he can, better than when he is in a counter, spend his time on suitable work when not attending to readers.

The ideal system, however, is that of separating the counter work entirely from the library proper Where this method is adopted—as in several American libraries—the work of discharging, charging, registration and so on is done in an ante-room or entrance hall staffed by "clerical" workers. The library proper —the book-room—is staffed by professionals. The reader readily appreciates the difference, while the atmosphere of the library itself is quieter and more conducive to the proper and leisured choosing of books. Structural difficulties may prevent the adoption of this system in many British libraries, but it is certainly worth consideration for all new buildings. In smaller libraries, both now and in the future, we may have to be content with bringing our senior people more generally out of their workrooms.

Reference libraries are in a different position, since very little clerical routine is involved there and readers naturally gravitate to the desk assistant on duty. Nevertheless, many reference departments, especially in smaller libraries, are badly staffed. Owing to staff shortages it is either difficult to provide constant staffing by assistants of the high quality necessary, or those on duty are overburdened with routine non-reference duties. This is a mistake. Reference work is a full-time job, and if the staff are used for other duties, not only does the proper work of the department suffer—the public are given the undesirable impression that the assistants are too busy to help them. Reference assis-

tants need sufficient freedom to devote whatever time is necessary to help readers, even though considerable research may be involved, and leisure to study their resources and to build up the files, indexes, and so on that will facilitate and increase the value of the service. Some smaller libraries are content with one qualified reference assistant and fill up with unqualified "relief" from other departments This is manifestly unsatisfactory.

In both lending and reference departments, arrangements should be made to ensure that unsatisfied requests for books and information are recorded and reported, so that when those on duty fail, the help of others, perhaps more qualified, shall be utilized before the matter is finally closed.

CHAPTER FIVE

I

SALARIES are, in the long run, the key to good staffing. This is no mere mercenary viewpoint, but the statement of an obvious economic law—or rather of two laws—that one has to pay a proper price to get a suitable article, and that like occupations are in competition with one another.

The truth of this first axiom is perhaps more generally appreciated in the case of materials than of men. Those who would unhesitatingly reject cheap materials, knowing that they might involve risk of breakdown, premature wear, excessive repair and so on, may often forget that unsuitable and unqualified employees can be as dangerous and—in a true sense—expensive.

True economy in staffing consists in employing a sufficiency of well-chosen and appropriately trained people Waste and extravagance follow reliance upon the unqualified and unsuitable. The latter not only fail to perform the same amount of satisfactory work; they are unable to perform adequately the more valuable functions of the service.

To give instances · the librarian whose book selection was inexpert and ill informed would reduce seriously the value of his library; the reference assistant who did not know his stock or how to use it may, even if

he succeeded eventually, spend several times as long to find required information as a good assistant would take; and inaccurate counter work causes delay, annoyance and "queries" that are expensive to rectify

Since it is the primary duty of a chief librarian to select, train, organize and supervise the work of his staff, it stands to reason that the first essential of a good service is the employment of a capable chief officer. Yet the best librarian may be made relatively ineffective if he is not given an efficient staff. The need for appropriate quality, therefore, applies to all grades of personnel

Just as there is a reasonable market price for the various grades of material, so there is a fair price for different types of personal service. The local authority has two sound reasons for paying this—the fact that it desires, or should desire, efficiency and economy, and the excellent and generally accepted principle that local authorities should be good employers. Few authorities to-day would consent to pay their workmen less than recognized trade union rates, while "fair wages" clauses are inserted in their contracts. They do this partly because they thus secure better work, but partly because they express the desire of the generality of the electorate to promote good conditions of labour and living It would be unjust and untrue to deny that to-day an increasing proportion of library authorities seek to offer adequate salaries to their staffs. But it would be equally false to ignore the fact, easily demon-

strable, that a majority of library workers are still underpaid. For this the still lingering effects of rate limitation are partly to blame. Probably in the days when salaries were restricted artificially by statute, library authorities received in the aggregate better service than they paid for, and it is still too often felt that the non-financial attractions of an otherwise attractive career justify the continuance of low salaries This is a dangerous viewpoint. While we admit that many suitable people enter library work despite its low rewards, it is certain that those libraries which are not offering adequate rewards are not, on the whole, attracting suitable recruits.

Librarianship as a career is in competition with a variety of other careers—in general, with many of those which are recruited from secondary schools. It will attract suitable personnel in proportion to the extent to which it offers rewards, immediate and ultimate, as good as or better than those offered by its competitors. Thus the type of entrant we want may equally be tempted to go into the civil service, banking, business, teaching and the like When coming to a decision, the potential entrant weighs up the pros and cons and, given any sort of a chance, chooses accordingly. He and his parents and advisers are concerned with such factors as these: (*a*) what sort of salary, standard of living and social position are attained by the average adult employee; in other words he may say, "What am I fairly certain to get in due course supposing I am

not 'lucky' or particularly clever?", (*b*) "What may I reasonably expect if I *am* lucky and clever and work hard?" Thirdly (*c*) he will obviously ask himself whether it will suit him. The answer to this question is vitally important to his future happiness, but it is one that it may be difficult to answer The best person to answer it should be the librarian who selects him or rejects him, but the librarian's ability to give a true decision will depend upon his own freedom of choice, i.e. upon his having sufficient of the right material available Furthermore, (*d*) the factor of immediate rewards and early prospects is far from negligible, while (*e*) every career has its own intangible advantages and disadvantages, such as security, variety, monotony, appeal to the spirit of adventure, to a love of outdoor or city life, and so on.

A number of candidates are undoubtedly guided by a sense of avocation which overrides more material and more general considerations, but on the whole the selection of a career is largely a progressive process of elimination. Some occupations, because of their advantages, make the strongest appeal to the most capable youngsters. If they can enter these occupations, they do, if they can't, they choose a second best, and so on. The less capable or less well placed (socially, educationally, etc.) elect to take up work with less obvious advantages, the worst take what they can get Conversely the least attractive occupations have to take the candidates they can get who, apart from the minority

with a sense of avocation, are necessarily those who are not thought good enough for the more attractive careers. Thus, in a sense, the salaries we need to pay to secure good library workers are fixed, not so much by the circumstances of libraries, but by what competing careers are able and willing to pay. The better the general prospects open to any class of candidate, the less librarianship can hope to recruit from that class. For that reason, as things are at present, we cannot hope to draw upon the graduate field many who are not in the least capable grades of that class.

It is noteworthy that when the library drew its entrants from the elementary schools it was able to get some of the best of the elementary school children. Times have changed. There are now better facilities for secondary education, and so it is probable that most of the suitable people who would formerly have gone straight into a library now pass into secondary schools We do not for one moment suggest a reversion to former practice, yet the fact remains that, as we then had a choice of the "best," what was then lacking in education, and perhaps in social background, was often compensated by "character." Many of the ablest men of the older generation of librarianship were elementary schoolboys. The moral is simply this: we cannot afford to rely largely upon the less good of any category.

II

One of the obstacles to the best recruitment is our failure to distinguish the profession of librarianship from the work of the non-professional clerk and routine worker. Another is the prevalence of low salaries

To take the first point first Library work is not presented to the majority of potential entrants as a career suitable for an intelligent lad with professional ambitions. He is not led to "think" of library work as a profession. If he uses a library as a reader, practically everything he sees done there is of a routine, uninspiring character Moreover, since our prevailing system is that of making him "go through the mill," the entrant is almost invariably asked to start as a routineer at a salary and with immediate prospects barely suitable even for such work Can we wonder if few of the best type make librarianship a first choice? If, however, we adopted a genuine division between professional and non-professional, we could more easily offer the appropriate prospects to each class, even though all beginners were required to serve a few years' apprenticeship in non-professional work Many a lad who is later to take part in the management of a business or to hold an administrative or executive post is made to serve his time in the workshop, factory or office; but he does so knowing that this is only for a limited time and for a definite purpose. It is quite a different type of lad, with different prospects, who goes

to the workshop, factory and office with the idea that this kind of employment may be his permanent occupation. We should treat library work similarly.

As it is, we fall between two stools. Present methods of education and promotion compel us to find, in due course, our senior professional people from the ranks of school-leaver entrants. If we were lucky enough to get a high proportion of potential professionals, we should have insufficient scope for them; conversely, if we had too few we should not be able later to fill the better posts from our own staffs. Movements of better people who are surplus in one library to other libraries where there is a deficiency make some adjustment, but on the whole this tends to increase unequal standards of staffing as between libraries offering different rewards. Moreover, movements from staff to staff are chiefly those of relatively senior people. So far as the majority of assistants are concerned, the library with good conditions tends to keep its staff. We therefore need both differentiation of grades on the individual staff and greater equalization of conditions throughout all libraries.

The problem is not easy of solution. We do not want to set up any barriers to the progress of any good youngster; neither can we easily make much differentiation between people doing the same sort of work during their initial years, unless there is some differentiation in initial educational and age requirements. In America this differentiation is simple, as professionals

are nowadays all college graduates, and non-professionals those who have not received or are unlikely to receive anything more than high school education. Here we are unlikely for many years to rely upon graduates, but we might with advantage recruit our future professionals at a later age—say eighteen—and ask for Higher Schools certificates instead of school-leaving standard.

There are two methods of implementing the distinction: (*a*) that of a basic, first grade common to all entrants in which non-professionals remained (unless or until they qualified), but from which professionals would pass in due course. The disadvantage of this system is that, if the number of established posts in the grade is fixed, as is now necessary for superannuation reasons, qualified and capable people may have to wait some years before they can obtain promotion, and meanwhile traditions of seniority grow up within the staff and promotions may create jealousies

Therefore (*b*) it would seem better to arrange parallel, overlapping grades. Thus if (basing the example on the L A. Scale 2 Recommendations) the grade for non-professionals was from £60 by twelve increments of £15 to £240, the first grade for potential professionals could be from £90 (or £105, etc., according to age) by increments of £15 to £300 This, in effect, means the telescoping of Grades A and B. Were such a system adopted, however, there should be a safeguarding proviso that any assistant in this combined

grade who failed to obtain appropriate qualifications or show the requisite ability should either remain at a maximum of £240 or revert to Grade A.

We feel also that some acceleration of increments in the professional grades would be advantageous. The L A. recommends the award of an extra increment for associateship and another for fellowship. This would seem a minimum.

Promotion beyond Grade B must as a rule depend upon there being vacancies on the establishment, as otherwise the cost of salaries might become disproportionately high.

While dealing with the question of increments, it might be argued with justice that some modified form of increment should be added after the normal grade maximum for those with long service. As it is (assuming Grade A, Scale 2 to be operated), the non-professional might reach his final maximum at the age of twenty-eight, after which he has nothing to hope for. Five yearly increments thereafter would at least provide some recognition of experience.

Whatever the grading scheme may be, however, it must, as already urged, provide adequate adult wages for the non-professional. Once we recognize that many of our employees will have to do non-professional work for the whole of their careers, we must recognize that we must pay decently for non-professional services At present, with a number of honourable exceptions, we do not provide adequately for the non-professional

Consequently as things are now, the man or woman who wants an adult wage has to strive to secure professional status, no matter how unsuited he may be. Alternatively, the employer faced with the obligation to pay him a living wage, but hindered by unsatisfactory grading schemes, has to allocate him to work which he is unqualified to perform properly.

We strike here at the root of our staffing evils. In 1934, when introducing the Library Association's Scale of Salaries and Memorandum on Conditions of Service, the present writer said that "the most urgent problem facing us is this There is far too much underpaid, 'pin-money,' 'blind-alley' employment in library work to-day. There are far too many authorities employing assistants at wages upon which they cannot possibly be even keeping themselves This is a state of affairs very discreditable to the authorities concerned. These authorities *may* find it possible to engage a sufficiency of youngsters who either have no need to earn, or who are passing their time until they get married, or who hope, if they study, to secure decent posts elsewhere. But it is a very unsatisfactory method of recruiting a public service.

"We must lay it down as a cardinal principle that *all* who enter the library service shall be assured, subject to satisfactory service, of an adult living wage. . . . Until this principle is universally adopted by authorities, we must suffer the recruitment of a large

percentage of totally unsuitable people, and we must also suffer a cut-throat competition for the slightly better posts. . . . Progress towards professional status in the higher grades cannot begin until we have settled the position of the junior grades on these lines."

III

The salaries scales and suggested grading recommended by the Library Association represent a reasonable basis for fixing salaries in different types of libraries. Though relatively few authorities have yet adopted them exactly as set out, several have scales which are approximately as satisfactory and in some respects better, while more and more are gradually introducing improvements which will bring them into line with the spirit of the recommendations.

The L.A. scales have been criticized, with any justification, only on one point, i.e. that the Grade A Scale 3 maximum of £300 is too high unless some intermediate bar is introduced (say at £225 or £240) beyond which either some appropriate (not necessarily library-professional) qualifications or proof of ability must be offered. This appears to us a reasonable modification Apart from this, and with the suggestion previously made of a parallel initial grade for potential professionals, the scale may be commended wholeheartedly to all authorities.

It is important that it should be adopted universally,

because until it is, full interchange of staff between libraries will be impossible or one-sided. Assistants will tend to stay at the places with good scales, and thus at these places stagnation and waste of ability may result. Conversely, the libraries with bad salaries will neither recruit nor retain good personnel.

We realize that there are smaller and less wealthy towns where it is more difficult to pay heavy salaries bills. The problem of the larger places unable locally to raise sufficient to maintain adequate services is one beyond our present scope, but the problem of the smaller libraries is not so difficult as it may at first appear. The difference between the large and the small place should be one of "grading" rather than of "scale." Clearly, the smaller the place, the less the relative responsibility of each type of worker. Thus the branch librarian of a large city may be comparable for grading purposes with the deputy of a smaller library, or the second assistant in an important central lending department equivalent to the chief assistant elsewhere. It is true that inappropriate grading can nullify the effect of a good scale, there are in fact cases where the scale in theory is excellent but in practice is bad, because too few people have been placed in the higher grades. Nevertheless, the intelligent relation of grading to the reasonable resources of a system can secure both suitable, efficient service and adequate rewards for individuals. And furthermore, it can bring that system into line with other systems, so that an assistant could

pass without difficulty from one grade in his system to the same or a higher grade in another.

Nevertheless, however small a library may be, it needs a qualified staff and a capable chief The needs of individual readers are not necessarily less exacting because they live in a small town There may be fewer demands in a small town for the more advanced types of service, but on the other hand the limitations of the smaller place are in themselves a reason for able administration and for judgment It is not easier but more difficult to select wisely a small stock, and a more intensive, if less extensive, knowledge of resources is needed if the deficiencies of, say, the modest reference collection are not to be aggravated Moreover, to the librarian in a small town it is wise to apply an adaptation of the phrase "What does he know of England who only England knows?" For he must, if he is to be efficient, have a knowledge of books and sources of information far beyond the material at his immediate command. This is especially true in these days when inter-library co-operation is being developed.

The library authority which cannot or will not afford to employ a qualified librarian has no right to maintain its independent existence because its service cannot be effective.

The capable librarian must have adequate support One might almost say that the smaller the system the higher the proportion of qualified personnel should be, because clearly the smaller the staff at each service

point the fewer non-professionals there can be if there is always at least one qualified person on duty—as should be the case. This need undoubtedly increases the financial strain upon the smaller authority, and where full staff provision cannot be made we are disposed to advocate a course which may sound heretical, i e. that we should seek quality before quantity. In other words, it would be better—if financial limitations cannot be overcome—to limit hours of opening, curtail less valuable provisions and take any other possible steps to ensure that at least the best part of the library's work is done properly rather than be satisfied to attempt all its work and do most of it badly. As an extreme example, two qualified people earning together, say, £600, with two juniors earning, say, £100 each, might well do much more valuable, if much less extensive, work than one qualified man with four or five unqualified assistants.

IV

The employment of girls and women has an important bearing upon questions of salaries and grading.

Women are quite capable of undertaking many, if not indeed all, types of library work, for some, such as work with children, they are much more suitable than men.

There are, however, good reasons why librarianship should not become entirely or predominantly a

"woman's profession." We must consider this matter frankly and trust that no offence is given where none is intended Firstly, it is a fact that as our world is constituted, most activities are on the whole "run" by men, and consequently those which are not are at some disadvantage. There are several fine and capable women in library work to serve as the exception to prove this rule, but in general, if librarianship is to take its just place as a profession, if the librarian is to claim equality of status with other chief officers, and if he is to represent the needs of the service to committees and councils which are predominantly male, the senior executive and administrative library posts should be held by men. Clearly we cannot have men in charge unless we have men in all the subordinate grades preparing themselves to fill the higher posts of the future

Secondly, many of the contacts and many of the duties are such that a man is more appropriate than a woman.

Thirdly, as society is at present constituted, it is the man's function, as a rule, to support a wife and family. Consequently, unless there is any reason why a particular means of earning a livelihood should be delegated to women, there are potent reasons why it should be given to men.

Fourthly, a majority of women marry and then leave work Thus, if we were to staff our libraries entirely with women, we should lose much that was valuable;

the accumulation of experience would be less, as experience would continually be draining away. Neither could we count on the same amount of initial interest and enthusiasm, for though many women undoubtedly give of their best whatever the prospect of matrimony, it would not be reasonable to expect that in the aggregate a group of women would have the same incentive as a group of men whose whole future depended on their efforts

These arguments do not allow us to exclude women from librarianship, but they make it clear that if women are admitted their presence must not be prejudicial to the interests of men (and indirectly of the women those men may want to support as wives) Equally, however, we must protect the interests of those women who genuinely make librarianship their career

What we seek, therefore, is equality of opportunity and of rewards We cannot countenance the employment of women because they are "cheap." Where salaries scales are in operation they must be the same for women as for men, especially in the junior grades. Too often the salaries of the lower grades are low because "girls can be got to do the work well enough." This is a very short-sighted and prejudicial policy, and is responsible more than anything else for the shortage of capable senior staff.

Here again differentiation of professionals and non-professionals would help. We fear that we may be criticized as anti-feminist, but it does seem that, while

leaving room for the capable professional woman, it would be a good thing if librarianship were to become predominantly a profession for men and an occupation for women In other words, let us accept the fact that, as all libraries have to operate under serious financial limitations, it is unlikely to offer for non-professional work wages which would be more than a bare livelihood for a man (who may have a family to support), but which should be sufficient for the average unattached woman. Let us, therefore, as a general practice recruit women for non-professional work and men for professional work.

CHAPTER SIX

I

THE librarian has the right to ask that each assistant shall give his best and most loyal services, but the assistant also has the right to ask much of his chief. Rather let us say that the library service demands that the librarian shall do his duty by his assistants.

Speaking broadly, the librarian is under a moral obligation to make the most of each assistant who is under his control The assistant's future depends largely upon the enthusiasm his chief can inspire, the opportunities he is given to learn his job thoroughly and the attitude towards librarianship with which he is confronted.

Professionally a librarian stands in *loco parentis* to his staff. So far as he is able—and where the system is too large to permit of this personal contact, it is his duty to delegate this responsibility to some others, such as his deputy and branch librarians, and to see that they shoulder it—he should make himself acquainted with each assistant's abilities and characteristics, afford him all possible help and encouragement and see that he is properly informed regarding educational and professional matters.

There is no need to go to extremes. Self-reliance is as important a quality to encourage as any other It is,

however, more dangerous to err in the other direction, as anyone will know who has come into contact with a staff of assistants who have been allowed to drift, to decide for themselves whether or not to seek qualifications, to find out as best they may about classes and examinations, who have never been urged to "get out" into better positions. Where there is no guidance the wastage of good material and the deterioration of service may be tragic

If, on the other hand, the librarian seeks to know his people, not only as members of his staff but as individuals, the mutual advantages are immeasurable. He is then able to suit his demands and his advice to the occasion and to the individual. There are, for example, men who do not call for encouragement to seek higher professional positions, but instead need to be shown tactfully that they may be contented in more humble spheres. And there are others who could be better than they themselves think Rigid systems of encouragement to take examinations based upon salaries awards and hard-and-fast grading regulations do not always serve the best purpose They ask too much of some and give too easily to others.

This personal knowledge also enables him to fit his staff into the scheme of things to the best advantage. On the whole, the best results are secured when each assistant is engaged on the work he can do best and at which he is happiest. There is one reservation—that this should not lead to limiting specializations. We

have nothing against specialization, on the contrary, we believe that every library worker should develop some personal specialization, and moreover that in larger libraries there should be much more departmental and similar specialization We refer here, however, to any arrangement of duties or training which tends to produce one-sided and incompletely experienced assistants. It is part of the librarian's duty to give all his staff some practice in all the types of work of which they are capable. The easy way of finding the people best suited for each task and department and keeping them there has several disadvantages; the assistants concerned become in time less able to assume other responsibilities, and their chances of promotion and migration may be reduced. Further, they tend to look upon the whole system from the viewpoint of their own department.

It is not really difficult to make the necessary temporary changes and adjustments, so that, for example, the cataloguing staff spend some time each week in the public department, or the reference staff in the lending department, or the lending staff in administrative duties and so on.

In some libraries the chief obstacle to this is a kind of unwritten hierarchy of jobs, some of which have by tradition come to be regarded as appropriate for one grade of assistant and others for those more or less senior. Thus to detail an assistant to a particular task implies some kind of subtle preferment or the reverse.

This creates inefficiency and bad feeling. When it is recognized that all jobs are in their way equally essential, and that any assistant can do any of them without loss of prestige, smoother working and greater variety of occupation follow.

Especially must one deplore the practice—once too prevalent, but now less frequent—of keeping assistants at particular branches for long periods. We have known instances of youngsters sent to branches the week after joining the service and staying there till they and their careers were ruined.

II

The army system of delegated responsibility works well in a library It is a good rule that from top to bottom no man should have to serve two masters. Thus, when the librarian places a man in charge of a branch or a department, he should leave him to allocate, supervise and be personally responsible for the work of those under him. The chief who "interferes" makes more difficult the task of the man in charge and may cause him to lose his interest and sense of responsibility.

The same rule should apply within the branch and the department. So far as practicable each assistant, especially a senior, should have his own part of the work to do and be held responsible. He should also be given as much scope for individual work as the general scheme of things and as necessary uniformities of method permit. The best work is always done by the

man who is left as free as possible to do it to his own satisfaction, and who gets full credit for what he does.

Some degree of uniformity of method is of course essential. Nothing is more confusing and annoying to the public or detrimental to the free interchange of staff than unnecessary variations of practice between different branches or departments. Every piece of procedure which is common to departments should be the same for all. Yet within this basic framework there may be ample room for the individual treatment of various activities. System is essential, but over-systematization produces red tape and an inflexible attitude towards the public and reduces the assistants' interest in their work.

We must teach them to think about their work, not just to do it by rule of thumb.

For this reason they should be encouraged to express themselves, to make suggestions and even criticisms After all, they see things that the librarian may not see and they hear things he does not hear. Moreover, if their experience is limited, it may for that very reason be more akin to that of certain sections of the public—for it is one of the disadvantages of experience and expert knowledge that it tends to take things for granted

III

Whatever system of training and professional education is in vogue, every possible help should be given to the

students on our staffs. Our first and most obvious duty is to provide good libraries of librarianship. Many libraries have excellent collections, not only of text-books but also of the supplementary literature; others fail lamentably to do for their own people what they are doing—unless they fail completely to fulfil their function—for other types of student. A short time ago the Birmingham and District Branch of the Library Association made a census of the books listed in the Examination Syllabus and provided by the libraries in the area The result, so far as some institutions were concerned, was such as to cause grave concern.

It is more debatable whether library authorities should pay examination fees and fees for classes, other than training classes held at their own libraries. There are two good arguments against this practice. The first is that the assistants should for other reasons be paid such adequate salaries that they can afford the relatively small sums involved. The second is that, where examinations are concerned, it is not a bad thing for some assistants to have a small personal stake in the matter, as a minority may be led, when it costs them nothing, to sit prematurely and gamble on their chance of passing. The matter would be of no import were it not that it is a bad thing psychologically for any candidate to fail unnecessarily.

The award of increments and honoraria for examination successes is not infrequent Here again there are pros and cons to be weighed in the light of local

circumstances.. Excepting where (as previously suggested) increments for qualifications are a deliberate means of acceleration, it might well be argued that, since it should be an understood thing that capable assistants *will* qualify, they should not expect any reward for so doing. Moreover, immediate financial rewards are not for some candidates the best inducement and may tempt them to sit prematurely, again, there may be the implication that a man passes his examinations to get an increment and not to make himself a better librarian. On the other hand, however, in certain libraries the system has its advantages. It may be a means of securing some small advantage for the qualified few where it has proved difficult to improve salaries in general. Furthermore, the procedure of reporting successes and of applying for increments provides the opportunity for reminding committees that librarianship *does* call for professional studies.

There is, however, one type of encouragement to the new assistant that deserves unqualified support, and which yet has not been generally adopted We refer to helping assistants, especially in small places, to travel and visit other libraries, and to assisting those in all types of libraries to make exchanges and to attend summer schools and conferences. Leave of absence, at least, should be given freely, and whenever possible some financial grants made.

Staff associations and social and sports functions which enable assistants to meet one another "off duty"

are to be encouraged. Indeed, if the chief himself can occasionally shed his office and meet his staff on an off-duty basis, he will learn much that is enlightening. Nevertheless, staff associations should confine their activities to social and educational matters. When they stray into trade unionism and politics, undesirable features may result.

It should not be necessary to urge the importance of adequate staff rest rooms, with facilities for meals and proper workroom accommodation. Unfortunately, many libraries are still deficient in this respect

IV

The last few years have seen considerable improvement in the hours worked by library assistants. The excessive hours of rate-limitation days—perhaps then unavoidable—have now given place to conditions comparable with those of other local government departments. A total working week ranging from thirty-eight to forty-two hours is now general There are, however, libraries where much improvement is desirable, where, for example, it is impossible for younger assistants to study without sacrificing most of their leisure, with consequent prejudice to health and social development.

Library work, however, has problems of its own, due to the long hours throughout which the public departments must be manned Consequently a forty-hour library week may well be much less satisfactory

than a forty-hour office week. It is generally recognized that for normal social purposes time off during the day is less useful than time off in the evening; yet library staffs must do much evening work. Moreover, it should be obvious that short periods of off duty during the day are of limited value. Indeed, where assistants live some way from the library this time off may be next to useless—as are long meal-times for those who do not go home for meals. Thus the rigid application of the split-duty time-sheet may prove a hardship.

A satisfactory time-sheet cannot be devised unless there are sufficient assistants. Nevertheless, much can be done to improve conditions by attention to such points as the following: (*a*) as much consideration as possible should be given to the personal circumstances of assistants. For example, those who live near the library are in quite a different category from those who live at a distance; thus the former might welcome an occasional afternoon off from, say, 1 p m. to 5.30, whereas a morning off to 1 p m. would suit the latter. (*b*) An assistant's time-sheet should be as stable as possible. His times off duty should not be changed, save for exceptional circumstances, without reasonable notice. (*c*) So far as is practicable, each assistant's meal-times should be regular, and the interval between-meals should not be too long or too short. Irregular meal times are bad for health. So are hurried meal times. (*d*) As a general rule short periods off duty are not much use. An occasional whole day off is valuable A

late starting hour is usually of no benefit (*e*) In order to reduce the number of evenings to be worked, endeavour on the one hand to reduce the mechanical operations and duties involved in the public service, and on the other give those assistants who are not normally occupied in public service their share of evening work in the public departments, and (*f*)—as suggested elsewhere—in cases of serious shortage of staff, consider the effect of reducing hours of opening

CHAPTER SEVEN

I

THE full development of our future library services will involve much greater attention to specialization. At present our educational programme is too standardized All qualified librarians have studied much the same curriculum and passed the same examinations. As these studies largely cover basic matters, there would be no objection to this if a sufficient proportion of students supplemented their general professional education with further advanced and specialized work. A few do so, either by pursuing personal interests or because they find themselves in specialized branches of librarianship and by practice acquire the necessary additional knowledge. But we have no facilities for specialized study, excepting certain advanced courses at the University of London School. Neither are there any particular inducements to specialization On the contrary, those who find themselves in special types of work often find little scope and discover that their specialization is a bar to promotion

What have we in mind when we speak of specialization in library work? There are two main aspects of the question—the personal and the institutional Firstly, we are thinking of the individual contribution the well-equipped man or woman can make to the common

stock of bibliographical knowledge and librarianship The breadth and complexity of the field in which we work are such that, though the competent librarian may compass the generalities of technique and bibliography, he cannot hope to achieve any intensive acquaintance with more than one or two branches of knowledge Librarianship to-day is not conducted in watertight local compartments There are ample facilities for the discussion and dissemination of the results of experiment and experience. There are in these days of growing inter-library co-operation ample opportunities for mutual assistance Whatever one man may discover or learn can be made available to others. What we need is greater opportunity for and encouragement of these individual contributions. There is ample scope for the specialist Some men may concern themselves with practical aspects of library management, others may elect to study the social and educational aspects of our work; others, with a subject bias, may survey the literature and sources of information of their chosen fields, and perhaps provide book-selection tools for the use of their colleagues.

Secondly, the actual work of our libraries, especially the larger ones, will tend to become more departmentalized and specialized. Already we have in our public libraries a number of special departments (mostly commercial and technical), in America this type of subject department is much more common. We cannot here

discuss the advantages of the system.[1] Its primary justification, however, is that it enables us to employ specially trained and experienced workers who can make an intensive study both of their material and of their public. The benefit to the latter is immeasurable. To that we can add the advantages that specialization can bring to the co-operative schemes of the future, since the special department can act as a reservoir of material and a clearing-house for information regarding its particular field, and serve not only its locality but also the libraries of a region or of the nation. It may, indeed, be said that the co-operative machine can only fulfil a small part of its purpose until the co-operating libraries are in a position to add a considerable degree of specialization to their more normal provisions.

The point at the moment, however, is that for our special departments and special libraries we need to make appropriate staffing arrangements and provide facilities for suitable training. The latter will, on the whole, be of an individual character. There will never, for example, be need for many workers in any particular field—even in such wider specializations as commercial and technical libraries or local collections and archives What we need, therefore, are facilities for the would-be specialist firstly to supplement his knowledge of the subject itself,[2] of its literature and of the special

[1] See *A Survey of Libraries*

[2] E g by taking university courses therein The Music Librarian or the Fine Arts Department Librarian would, for instance, benefit from courses in the history of their respective subjects, etc.

technical problems involved, and secondly to work in and study the methods of good libraries devoted to his subject.

At present we have nothing to offer this potential specialist. Indeed, when we do initiate any special department, we must make a choice either of selecting the most appropriate member of our staff, and thrusting him into the breach leave him to work out his own salvation, or of importing a non-librarian specialist. The latter, though he may have the necessary subject training, will probably not possess a very considerable bibliographical knowledge and will know nothing of the technique of his work; he will, almost inevitably, develop his department as a circumscribed unit imperfectly related to the whole system, and probably out of sympathy with the generality of users.

As things are, we cannot expect suitable students to embark upon specialization. They can only acquire the necessary knowledge at their own expense and at the loss of a year or two, during which they are missing the chances in general work of their contemporaries.

If they do prepare themselves for special library work, the odds are about a thousand to one against their ever finding the opportunity to do it. If they are so miraculously fortunate, they will probably remain in subordinate, underpaid posts for the rest of their lives.

We must, in the best interests of librarianship, endeavour to solve this problem We must improve the

status and the financial position of the specialist, and we must provide scholarships, fellowships and other educational opportunities, similar to those available in America.

As in the case of general educational facilities—already discussed—it might not prove impossible to secure the requisite financial assistance if we considered seriously and demonstrated the need; we shall certainly never get it otherwise. May we suggest that the Library Association should devote its attention to this matter rather than to certain of the arid and unprofitable internal dissensions upon which it seems to expend too much of its energies

II

We often claim that librarianship is a profession. In the absence of any clear definition of a "profession" it is difficult to justify or deny this claim. There are some who, taking a wide humanitarian viewpoint, would regard as "professional" those occupations which, while essentially "intellectual," are directed towards the welfare and betterment of mankind rather than towards private gain, and that their practitioners are devoted primarily to the service of the public. Others may take the narrower attitude that a "profession" is a "closed" occupation, in that its practice involves such a degree of expert knowledge and is so bound by tradition and etiquette that only those with recognized qualifications

may engage in it, and are then bound either by governing professional organizations or by legal powers and limitations or both. Thus there are some who ask whether librarianship should, or will ever, become a "closed" occupation; whether, in fact, the existing Register of the Library Association will become more than a list of qualified people—whether, in fact, it will be practicable to confine the employment of people, for work involving professional knowledge, to those who are entered on the register.

All who have the welfare of the library service at heart would welcome any system which prevented the employment of the unqualified. In a few of the States in America, and in certain European countries, there are laws requiring the employment of persons with qualifications appropriate to various types of library work Would such legal requirements be practicable in England?

We would not express any definite opinion The tendency for many years in this country has been to safeguard the interests of the public by limiting the activities of the unqualified, be they doctors, plumbers, midwives, lawyers, dentists or accountants. On the other hand, general public sentiment looks with disfavour upon any attempt to secure personal advantage for any group of men by giving them privileges and the power to limit their numbers.

The thing that matters, therefore, is not so much the organization and legal status of a profession as the

extent to which it is recognized by the general public that specialized qualifications are necessary for the satisfactory accomplishment of certain public services. Professional registration is a second stage It provides evidence that certain persons possess certain knowledge, but is useless unless the public are interested in this evidence In a nation of faith healers the medical register would serve less purpose than a list of people who could decipher ancient Egyptian inscriptions.

We who work in libraries know that certain qualifications and experience are necessary; we know, conversely, that people without these qualifications are unlikely to do library work as fully and satisfactorily Consequently, in the interests of all those who benefit from library services, we must endeavour to secure public recognition of the essential qualifications. This is achieved in three ways. The first—and always the most important—is to provide a service which is so efficient and effective that it is self-evident that it is being provided by capable personnel. Secondly, recognizable qualifications and designations must be formulated. Thirdly, the professional nature of the work must be made evident. The last two points may be amplified.

When we refer to a "doctor" most people think at once of a physician, despite the fact that there are thousands of "doctors" who are not "physicians" and many physicians who are not "doctors." The word has a definite popular connotation, as have such words as dentist, parson, solicitor, and so on. The word

"librarian" has no such definition. It may refer to a Fellow of the Library Association in charge of a public library system, or it may mean an uneducated girl distributing trash from a chain store, or a bookseller. If we would indicate clearly the professional library worker, we must find another phrase. There is a proposal to introduce the term "Chartered Librarian," only those who are registered Fellows of the Library Association to have the right to use the appellation. This is an excellent idea, though it will take many years to make the phrase as well known as, say, the name "chartered accountant." It is certainly an improvement upon our present reliance upon the initials "F L A" or "A.L.A." after our names. Thus in time the "idea" of a professional librarian would become allied with the Library Association Register.

It is indeed true that, at least so far as public libraries are concerned, the register is universally recognized by employing authorities. Only very occasionally are unregistered persons appointed to senior posts. We are compelled, therefore, to suggest that any deficiencies in professional personnel are due, not to any lack of recognition on the part of authorities, but to our own failure to recognize fully the function of a register.

A registration body has serious responsibilities towards the public If it enters any person on its register who is not fully qualified to perform responsible senior duties, the value of the register is lost. We must always regard the granting of registration, not as a

reward conferred upon the registered person, but as the assertion to the public and to the potential employer that the person is qualified In other words, our first duty is to the public, and only incidentally to the librarian. The implication of this viewpoint should be obvious: qualifications must be related to the work and not to the worker. Standards must never be lowered because, for personal or educational reasons, insufficient people can secure qualification If such were the case, we should turn our attention to improving recruitment and providing better educational facilities.

Lastly—as before said—we must be sure that the professional nature of library work is evident. To put the matter in another way, let us refrain from engaging in activities which are not worthy. The quality of the library service has improved immensely in recent years.

Nevertheless, there is much done in many libraries which is barely distinguishable from the frivolous, ephemeral and useless activities of the commercial distributors of popular pabulum. This is not the place to discuss this wider issue. The fact remains, however, that the public will never recognize as professional physicians those who peddle patent medicines. There is more than enough true library work to be done to occupy all our qualified personnel and utilize all our resources, and it would be a pity to waste either, and at the same time to hamper the progress of librarianship.

As we have dealt throughout with those engaged in "public libraries," may we conclude with a plea for a

wider professional understanding. The better the work done by the public library the more it becomes akin to that of the university, national, learned society or specialist library, and the closer the alliance and co-operation between all types of genuine library service should be. Though recent years have seen much progress in this direction, there is still too little interchange of personnel and exchange of experience between public and non-public libraries. There is far more in America. We recognize the various obstacles—such for example, as the regard for "degrees" in the university and learned libraries and the influence of superannuation schemes in the local authority service. Yet each side can give so much to the other that we must when we seek to improve and consolidate the profession of librarianship, think not of several librarianships, but of one united body.

INDEX